2-3

जे० कृष्णमूर्ति

शिक्षा भाग–(२)

शिक्षकों से वार्ता

कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया

जे० कृष्णमूर्ति

शिक्षा भाग–(२)

शिक्षकों से वार्ता

कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया

अनुवादक—डा० डा० एस० वर्मा

मूल्य — रु०[redacted]— मात्र
१५/०

मुद्रक—दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स प्रा० लि०
वाराणसी

अनुक्रम

परिच्छेद—१

सम्यक्-शिक्षा

कृष्णमूर्ति :—दक्षिण में ऋषि वैली तथा उत्तर में राजघाट जैसे स्थानों में हमारा उद्देश्य एक ऐसे परिवेश का, एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जहाँ, यदि संभव हो सके, एक नये मानव को जन्म दिया जा सके। क्या आप इन दो विद्यालयों के इतिहास को जानते हैं ? लगभग तीस वर्षों या और अधिक से ये कार्य कर रहे हैं। बालक को सर्वश्रेष्ठ टेकनोलॉजिकल कार्यक्षमता से सम्पन्न करना कि वह आधुनिक विश्व में स्पष्टता से एवं कुशलता से कार्य कर सके, और इससे भी अधिक महत्व-पूर्ण एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिससे कि बालक एक पूर्ण मनुष्य के रूप में पूरी तौर से विकसित हो सके—यही इन विद्यालयों का प्रयोजन है, लक्ष्य है। उनके पीछे यही प्रेरणा है। इसका अर्थ है कि बालक को अच्छाई में पुष्पित होने का अवसर दिया जाय जिससे कि वह व्यक्तियों के साथ, वस्तुओं एवं विचारों के साथ, समस्त जीवन के साथ सही रूप से सम्बन्धित हो। जीने का अर्थ ही सम्बन्धित होना है। यदि सौन्दर्य के प्रति सही अनुभूति नहीं है, प्रकृति के प्रति, संगीत और कला के प्रति संवेदनशीलता नहीं है तथा एक ऊँची विकसित सौन्दर्यानुभूति नहीं है तो किसी भी वस्तु के साथ सम्बन्ध सही नहीं है।

मेरे विचार से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि प्रतियोगी शिक्षा तथा उसकी प्रक्रिया में छात्र का विकास होना बड़ा विनाशकारी है। मैं नहीं जानता कितनी गहराई से हमने इसके महत्व को समझा है। यदि हमने उसके महत्व को समझा है तो प्रश्न उठता है कि सम्यक् शिक्षा है क्या ? मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि वह प्रारूप जिसे आज हम संवर्धित करते हैं तथा जिसे शिक्षा के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ समाज के लिये अनुरूपता है, वह तो बहुत ही अधिक विनाशकारी है। वह शिक्षा और उसके तमाम महत्वाकांक्षी कार्यक्रम अत्यन्त निराशाजनक हैं। और जो हमने अभी तक इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विचार किया है और जिसे हम विकास मानते रहे हैं, पूर्व और पश्चिम दोनों में ही, वह हमारी संस्कृति है। वह अनिवार्यतः दुःख को आमंत्रित करना है। इस सत्य का साक्षात आवश्यक है। यदि हमें यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है और यदि हमने स्वेच्छा से इसका त्याग कर दिया है—एक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, वरन् उसी तरह जैसे स्वाभाविक रूप से किसी वृक्ष से पत्ता गिर जाता है—तो फिर प्रश्न उठता है कि पुष्पित होना क्या है, सम्यक् शिक्षा क्या है ? क्या आप किसी व्यवस्था-प्रणाली के योग्य बनने, अनुरूपता के लिए अथवा समायोजन हेतु छात्र को शिक्षित करते हैं अथवा आप उसे शिक्षित करने में मदद करते हैं कि वह इन सबके समस्त महत्व को स्पष्टता से देखे, उसे गहराई से समझे और उसके साथ-साथ पढ़े-लिखे भी ? वर्तमान व्यवस्था-प्रणाली निराशा उत्पन्न करती है और यदि हम इसी के अंतर्गत लिखना एवं पढ़ना सिखाते हैं तो उसके मन का पुष्पित होना अवरुद्ध हो जाता है। तो प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रतिस्पर्धात्मक शिक्षा को त्याग दिया जाता है तो शिक्षा का जो सामान्य माना हुआ अर्थ है उस अर्थ में मन को क्या शिक्षित किया जा सकता है ? अथवा शिक्षा का वास्तविक अर्थ यह है कि अपने को तथा छात्र को निराशा एवं वासना की सामाजिक संरचना से वास्तव में निकाला जाय तथा साथ ही उसे गणित, भौतिक-

शास्त्र, आदि के विषय में ज्ञान भी दिया जाय ? अंततः यदि शिक्षक तथा छात्र के ऊपर से इन तमाम कुत्सित भ्रांतियों को उतार कर फेंक दिया जाता है तो फिर शिक्षा और शेष रह ही क्या जाती है ? तब जो कुछ सिखाना रह जाता है तो वह यही है कि आप उसे लिखना-पढ़ना, गणना करना, आकृतियाँ बनाना, तथ्यों को तथा तथ्यों के विषय में दूसरों के मतों को याद रखना बतायें एवं उसका संचार करें।

अतः शिक्षा का क्या कार्य है और क्या शिक्षा की कोई विशेष पद्धति होती है ? क्या आप छात्र को कोई टेकनीक सिखाते हैं कि वह कार्यक्षम बने और उस कार्यक्षमता में ही महत्वाकांक्षा के बोध का विकास कर ले ? किसी नौकरी को या व्यवसाय को प्राप्त करने के लिए छात्र को किसी टेकनीक की शिक्षा देने की प्रक्रिया में ही आप उसमें निहित निराशा तथा सफलता के बोझ को उसके ऊपर लाद देते हैं। वह जीवन में सफल होना चाहता है और साथ ही शांति भी चाहता है। उसका समस्त जीवन ही एक अंतर्विरोध है। वह अंतर्विरोध जितना अधिक होता है, तनाव भी उतना ही अधिक होता है। यह एक तथ्य है। जब अंतर्विरोध का दमन होता है तो उतनी ही अधिक बाह्य क्रिया होती है। आप उस छात्र को एक टेकनीक देते हैं और उसके साथ ही उसमें यह विलक्षण असंतुलन, अत्यधिक अंतर्विरोध विकसित करते हैं जो हताशा तथा निराशा उत्पन्न करता है। टेकनीक की क्षमता में छात्र जितना अधिक विकास करता है, महत्वाकाँक्षा तथा निराशा उतनी ही अधिक होती है। आप उसे इसलिए शिक्षित करते हैं कि वह किसी टेकनीक को सीखे और वह टेकनीक ही अंत में उसे निराशा पर पहुँचायेगी। अतः प्रश्न यह है कि क्या आप उसकी सहायता कर सकते हैं कि वह अंतर्विरोध में न बहे ? छात्र जो कर रहा है उसके प्रति उसमें प्रेम भी हो यदि इसमें आप उसकी सहायता नहीं करते तो वह अंतर्विरोध में बह ही जायेगा।

वास्तव में होता यह है कि यदि छात्र रेखागणित से प्रेम करता है, उसी को लक्ष्य मान कर उससे प्रेम करता है, तो वह उसमें इतनी पूर्णता से व्यस्त हो जाता है कि उसे कोई महत्वाकांक्षा ही नहीं रहती। वह रेखागणित से वास्तव में प्रेम करता है और उसके लिए वह एक अतीव आनन्द है। इसलिए वह उसमें पुष्पित होता है। तो, इसी प्रकार, एक ऐसी वस्तु से प्रेम करने के लिए आप छात्र की कैसे सहायता करेंगे जिसे छात्र को अभी अपने लिये खोजना है ?

यदि आपसे एक अध्यापक के रूप में पूछा जाय कि इस विद्यालय का क्या प्रयोजन है तो क्या आप इसका उत्तर दे सकेंगे ? मैं जानना चाहता हूँ कि आप सब क्या करने का प्रयास कर रहे हैं, आप छात्र को क्या बनाना चाहते हैं ? क्या आप उन्हें किसी रूप में ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं, क्या आप उन्हें प्रतिबद्ध कर रहे हैं अथवा किसी विशेष दिशा में ले जाने को बाध्य कर रहे हैं ? क्या आप छात्र को गणित, भौतिकशास्त्र, की शिक्षा देने का कुछ सूचनाएँ देने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे कि वह टेकनिकल ज्ञान में कार्यक्षम हो सके तथा भविष्य के अपने जीवन-वृत्ति को अच्छी तरह कर सके ? सारे विश्व में हजारों विद्यालय यही कर रहे हैं—वे टेकनिकल ज्ञान में छात्रों को सर्वोत्तम बना रहे हैं जिससे कि वह एक अच्छा वैज्ञानिक, इञ्जीनियर, भौतिकशास्त्री, आदि बन सके। अथवा आप यहाँ उससे कहीं अधिक करने का प्रयत्न कर रहे हैं ? यदि वह कहीं अधिक है तो वह क्या है ?

इस सम्बन्ध में हमें अपने अन्दर बहुत स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं, कि एक मनुष्य को क्या होना चाहिए—एक समग्र मनुष्य न कि केवल एक टेकनोलॉजिकल मनुष्य। यदि हम परीक्षाओं पर, टेकनिकल ज्ञान की सूचनाओं पर बड़ा जोर देते हैं, बालक को चतुर तथा ज्ञान प्राप्त करने में कार्यक्षम बनाते हैं एवं दूसरे पक्ष की उपेक्षा कर देते

हैं तो बालक का विकास एकांगी होगा। जब हम एक समग्र मनुष्य की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल एक ऐसे मनुष्य से ही नहीं है जिसमें आंतरिक बोध है, जिसमें अपने आंतरिक व्यक्तित्व के, आंतरिक अवस्था के अन्वीक्षण की, उसकी परीक्षा की तथा उससे परे जाने की क्षमता है, बल्कि हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति से भी है जो उसमें भी अच्छा है जिसे वह बाह्य रूप से करता है। आंतरिक एवं बाह्य दोनों को साथ-साथ चलना चाहिए। शिक्षा की यही वास्तविक समस्या है—यह देखना कि बालक जब विद्यालय छोड़ता है तो वह आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार से सद्गुण सम्पन्न है।

एक ऐसे आरम्भिक बिन्दु का होना आवश्यक है जहाँ से हम कार्य आरम्भ करें जिससे हम न केवल टेकनिकल ज्ञान सम्बन्धी पक्ष का संवर्द्धन कर सकें वरन् साथ ही साथ मन के गहन तत्त्वों का, गहन क्षेत्रों का भी उद्घाटन कर सकें। मैं इसको एक दूसरे प्रकार से रखूंगा। यदि छात्र को टेकनोलॉजी में ही कार्य-कुशल बनाने की ओर आप ध्यान देते हैं तथा दूसरे पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं, जैसा कि प्रायः हम करते हैं, तो ऐसे व्यक्ति का क्या होता है ? यदि छात्र को एक प्रवीण नर्तक अथवा गणितज्ञ बनाने की ओर ही आप केवल ध्यान देते हैं, तो क्या होता है ? वह केवल उतना ही नहीं रहता, वह कुछ और भी हो जाता है। वह ईर्ष्यालु, क्रोधी, हताश और निराशा से भरा हुआ, महत्वाकांक्षी हो जाता है। इसलिए आप एक ऐसा समाज बनायेंगे जिसमें सदा दुर्व्यवस्था रहेगी, क्योंकि आप टेकनोलॉजी एवं एक सीमित क्षेत्र की कार्यक्षमता को ही गौरव दे रहे हैं तथा दूसरे क्षेत्र की उपेक्षा कर रहे हैं। कोई मनुष्य अपने टेकनिकल ज्ञान में चाहे कितना भी कार्य-कुशल क्यों न हो, अपने सामाजिक सम्बन्धों में वह सदा अंतर्विरोध में ही रहता है। अपने पड़ोसी से वह सदा संघर्षरत रहता है।

अतः टेकनोलॉजी एक पूर्ण अथवा अच्छे समाज को नहीं उत्पन्न कर सकती। वह एक विशाल समाज का निर्माण कर सकती है, जिसमें गरीबी न हो, जिसमें भौतिक समानता, आदि हो। यह आवश्यक नहीं है कि एक विशाल समाज एक अच्छा समाज भी हो। अच्छे समाज में व्यवस्था निहित है। व्यवस्था का यह अर्थ नहीं है कि रेलें समय पर चलें, डाक नियमित रूप से बँटे। उसका कुछ दूसरा ही अर्थ है। मनुष्य के लिये त व्यवस्था का अर्थ आंतरिक व्यवस्था होता है। और ऐसी व्यवस्था अनिवार्यतः एक अच्छा समाज बनायेगी। तो हमें किस केन्द्र विन्दु से आरम्भ करना है?

क्या आपने मेरे प्रश्न को समझा? यदि मैं आंतरिक की उपेक्षा करता हूँ तथा टेकनोलॉजी पर बल देता हूँ तो जो कुछ भी मैं करता हूँ एकांगी होगा। इसलिए मुझे कोई मार्ग खोजना ही होगा, मुझे एक ऐसा आंदोलन करना होगा जो दोनों को संभव बनाये। अब तक हमने दोनों को पृथक् किया है, और उनको पृथक् करके, हमने एक को गौरव दिया है तथा दूसरे की उपेक्षा की है। अब हम यही करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि दोनों आपस में जुड़ जायँ। उचित शिक्षा होने पर छात्र इन दोनों को दो पृथक् क्षेत्र नहीं मानेगा। वह दोनों में ऐसे व्यवहार करेगा मानों वे दोनों एक ही हों। ठीक? अपने को टेकनीक-सम्बन्धी ज्ञान में पूर्ण करने के साथ-साथ वह अपने को एक सार्थक मनुष्य भी बनायेगा। क्या यह आपको कुछ स्पष्ट करता है अथवा नहीं?

एक नदी सदा समान ही नहीं रहती, तट बदलते रहते हैं, और उसके पानी को भी उद्योगों अथवा दूसरे कार्यों में उपयोग किया जा सकता है, परन्तु है वह तब भी पानी ही। तो हमने टेकनोलॉजी-सम्बन्धी विश्व को एवं दूसरे विश्व को पृथक् क्यों कर दिया है? एक ओर वे व्यक्ति हैं जो कहते हैं, "यदि हम टेकनोलॉजी के विश्व को पूर्ण बना सकते तो हमारे पास सभी के लिए भोजन, वस्त्र और मकान होते, अतः हमें

टेकनोलॉजी की ही चिंता करनी चाहिये।" और दूसरी ओर वे व्यक्ति हैं जो केवल आंतरिक विश्व की ही चिंता करते हैं। वे केवल तथा-कथित आंतरिक विश्व को ही गौरव देते हैं और अधिकाधिक एकाकी, अधिक.धिक स्व-केन्द्रित, अधिकाधिक अस्पष्ट होते जाते हैं तथा अपने विश्वासों का, रूढ़ि-सिद्धान्तों का एवं अपने स्वप्नों का ही अनुशीलन करते रहते हैं। यह भयानक विभाजन है और फिर हम कहते हैं कि इन दो को हमें किसी प्रकार एक साथ लाना चाहिये। अतः जीवन को वाह्य तथा आंतरिक में विभाजित करके अब हम उन्हें एकीकृत करना चाहते हैं। मेरे विचार से यह रास्ता भी द्वन्द्व को वढ़ाता है। यदि हम एक ऐसा केन्द्र-विन्दु, ऐसा आंदोलन, ऐसी दृष्टि पा सकें जो विभाजित नहीं करती तो हम दोनों में समान रूप से क.यं कर सकेंगे।

तो वह आंदोलन कौन सा है जो सर्वोपरि रूप से वुद्धिमत्तापूर्ण है? मैं "वुद्धिमत्तापूर्ण" शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ न कि 'चतुर' का, और न ही मैं उस आंदोलन की चर्चा कर रहा हूँ जो किसी की अंतर्दृष्टि से प्राप्त है, अथवा ज्ञान, सूचनाओं एवं अनुभव से प्राप्त है। तो वह कौन सा आंदोलन है जिसे इन सब विभाजनों का, इन सब द्वन्द्वों का अवबोध है; और ठीक यही अववोध है जो वुद्धि के इस आंदोलन को सृजित करता है।

विश्व में हम देखते हैं कि दो आंदोलन चल रहे हैं। एक तो गहन धार्मिक आंदोलन है जिसके लिये मनुष्य ने सदा प्रयत्न किया है और जो कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, अथवा हिन्दू हो गया। दूसरा टेकनोलॉजी वाला जो सांसारिक आंदोलन है, जिसमें कम्प्यूटर हैं, स्व-चालित यंत्र हैं, जो मनुष्य को और अधिक विश्राम देते हैं। धार्मिक आंदोलन वड़ा क्षीण है और अव तो वहुत कम ही लोग उसमें लगे हैं। टेकनोलॉजी का आन्दोलन तीव्र से तीव्र होता जा रहा है और मनुष्य उसमें अपने को खोता जा रहा है, और अधिक यांत्रिक होता जा रहा है और तव इस यंत्रवाद से मनुष्य पलायन

करने का प्रयत्न करता है, वह किसी नवीन वस्तु की खोज—चित्रकारी में, संगीत में, कला में, नाटक में—करने का प्रयत्न करता है। और धार्मिक व्यक्ति, यदि हैं कोई तो, कहते हैं "यह गलत रास्ता है" और फिर अपने एकांगी विश्व की ओर मुड़ जाते हैं। वे इन दोनों की यांत्रिकता को, उनकी अपर्याप्तता को, अनुपयुक्तता को, उनकी अपरिपक्वता को नहीं देखते। अब, क्या हम देख सकते हैं कि वे दोनो ही कितने अपर्याप्त हैं? यदि हम उसे देख सकते हैं तो हम उस यांत्रिकता-विहीन आंदोलन को समझना आरम्भ कर रहे हैं जो उन दोनों को ही आपूरित कर लेगा।

यदि मुझे किसी बालक को शिक्षा देनी होती तो मैं उन दोनों मार्गों की यांत्रिक तथा अपर्याप्त प्रक्रिया को देखने में उसकी सहायता करता। और इन दोनों, जैसे वे उसमें कार्यरत हैं, की अपर्याप्तता के इसी परीक्षा में ही बालक में उस सम्यक् बुद्धि का जन्म होता है जो केवल परीक्षा से आती है।

कृपया इन पुष्पों को देखें, इनकी विलक्षण आभा को, इनके सौन्दर्य को देखें। छात्र की इन पुष्पों को देखने में और उसके साथ ही गणित में भी दक्ष होने में मैं, एक शिक्षक के रूप में, कैसे सहायता कर सकता हूँ? यदि मेरा सम्बन्ध केवल पुष्पों से ही है और मैं गणित में दक्ष नहीं हूँ तो मुझमें ही कोई त्रुटि है। यदि मेरा सम्बन्ध केवल गणित से है तो भी कोई त्रुटि मुझमें ही है।

ऐसा सम्भव नहीं है कि आप टेकनोलॉजी के ज्ञान में पहले दक्ष हो लें और तब कहें कि हमें दूसरे का भी अध्ययन करना है। वर्षों तक ज्ञान प्राप्त करने में ही संलग्न रहने के कारण आपने अपने ही अन्दर कोई वस्तु नष्ट कर दी है—अवलोकन की क्षमता को एवं अनुभूति को किसी एक या दूसरे को गौरव देकर आप असंवेदनशील हो गये हैं, जबकि संवेदनशीलता सम्यक् बुद्धि का सारतत्व है।

अतः सर्वोत्तम प्रकार की संवेदनशीलता ही वह गुण है जो हम चाहते हैं कि बालक में हो। संवेदनशीलता सम्यक् बुद्धि है; वह पुस्तकों से नहीं आती। यदि आपने अपने जीवन के चालीस वर्ष गणित सीखने में व्यतीत कर दिये हैं किन्तु आप उन पुष्पों का, नीले आकाश का, दर्शन नहीं कर सके तो आप मृत हैं। यदि आप संवेदनशील हैं जो कि सम्यक् बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ गुण है, तो आप उन पुष्पों का दर्शन कर सकेंगे और साथ में गणित भी पढ़ सकेंगे। यदि इस प्रकार की सम्यक् बुद्धि का आंदोलन होगा तो वह दोनों क्षेत्रों को आपूरित कर लेगा। तो बालक में संवेदनशीलता के उस आंदोलन को आप और मैं शिक्षकों के समुदाय के रूप में कैसे उत्पन्न करने जा रहे हैं ?

छात्र को स्वतंत्र होना चाहिये। अन्यथा वह संवेदनशील नहीं हो सकता। यदि वह गणित के अध्ययन के लिये, उसका आनन्द लेने के लिए, उसमें मन लगाने के लिए, जिसे स्वतंत्रता कहते हैं, स्वतंत्र नहीं है तो वह उसका समुचित रूप से अध्ययन नहीं कर सकता। और उन पुष्पों का अवलोकन करने के लिए, उनके सौन्दर्य के अवलोकन के लिये भी उसे स्वतंत्र होना चाहिये। अतएव सर्व प्रथम स्वतंत्रता होनी चाहिये। इसका अर्थ है कि बालक को स्वतंत्र होने में हमें सहायता देनी चाहिये। स्वतंत्रता में व्यवस्था निहित है; स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि बालक जो चाहे करे, जब चाहे कक्षा में अथवा भोजन के लिये आये।

अन्वेषण करने में, काम करने में, सीखने में, हमें इसका बोध होता है कि सर्वोत्तम प्रकार की संवेदनशीलता ही सम्यक् बुद्धि है। वह संवेदनशीलता, वह सम्यक् बुद्धि केवल स्वतंत्रता में ही आती है, परन्तु इसको बालक तक सम्प्रेषित करने के लिए हमारे अन्दर भी बड़ी बुद्धि की आवश्यकता होती है। वह स्वतंत्र हो इसमें मैं उसकी सहायता करना चाहूँगा, फिर भी मैं चाहूँगा कि स्वतंत्रता के साथ-साथ व्यवस्था हो, अनुशासन हो, बिना किसी अनुरूपता के। किसी वस्तु की परीक्षा के लिए केवल स्वतंत्रता की

ही नहीं वरन् अनुशासन की भी आवश्यकता होती है। यह अनुशासन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको बाहर से बालक के ऊपर आरोपित किया गया है और जिसके अनुरूप वह होने के लिये प्रयत्नशील है। टेकनोलॉजी तथा धार्मिक विषयक दोनों प्रक्रियाओं के अन्वेषण में ही दत्त-चित्तता होती है, अतः अनुशासन होता है। अतः प्रश्न उठता है, "हम कैसे उस बालक अथवा बालिका की पूर्णतया स्वतंत्र होने में और फिर भी भलीभाँति अनुशासित होने में सहायता कर सकते हैं, किसी भय अथवा अनुरूपता के द्वारा नहीं, आंशिक रूप से भी नहीं, वरन् पूर्णतया स्वतंत्र और फिर भी, साथ ही साथ उच्च प्रकार से अनुशासित ?" एक पहले और दूसरा बाद में, ऐसा नहीं। वे दोनों साथ ही साथ चलते हैं।

तो, हमें इसे कैसे करना है? क्या हम इसे स्पष्टता से देखते हैं कि स्वतंत्रता नितांत आवश्यक है, और कि स्वतंत्रता का अर्थ जो हम चाहें वही करना नहीं है? आप जो चाहें वह नहीं कर सकते हैं क्योंकि आपका जीवन सदा दूसरों से सम्बन्धित है। पूर्णतया स्वतंत्र होने की और साथ ही साथ अनुरूपता रहित अत्यधिक अनुशासन की आवश्यकता तथा उसके महत्व को देखें। देखें कि आपके विश्वास, आपके विचार, आपके सिद्धांत, दूसरों द्वारा प्राप्त पुराने तो नहीं हैं। आपको यह सब देखना होगा और यह भी देखना होगा कि आप पूर्णतया स्वतंत्र हों। अन्यथा आप एक मनुष्य के रूप में कार्य नहीं कर सकते।

तो, मैं सोचता हूँ कि आप इसको एक विचार के रूप में देखते हैं अथवा एक तथ्य के रूप में, इतने तथ्यात्मक रूप में जितनी कि यह दावात। जब आप इसके महत्व को समझ लेते हैं कि बालक पूर्णतया स्वतंत्र हो तथा यह भी अनुभव करते हैं कि अनुशासन और व्यवस्था होनी चाहिये, तो आप शिक्षकों के समुदाय के रूप में कैसे उसकी सहायता करेंगे ताकि वह स्वतंत्रता और व्यवस्था में पुष्पित हो सके? बालक को डाँटने-फटकारने

से तो आप ऐसा कर नहीं सकते; वालक को पीटने से भी आप ऐसा नहीं कर सकते, और न तो उसकी दूसरों से तुलना करके ही आप ऐसा कर सकते हैं। किसी प्रकार का दवाव, धमकाना, उसे अंक देने या न देने की प्रणाली, यह सब भी ऐसा करने नहीं जा रही है।

यदि आप वालक के स्वतंत्र होने के और साथ ही भलीभाँति अनुशासित होने के महत्व को देखते हैं, और यदि आप देखते हैं कि दण्ड तथा फुसलाने से भी कुछ नहीं होगा, तो फिर क्या आप अपने लिए इन सवका पूर्णतया त्याग नहीं कर देंगे ?

पुरानी प्रणाली ने स्वतंत्रता नहीं दी। उसने मनुष्य को अनुपालन के लिए तथा समायोजन के लिये वाध्य किया है; परन्तु यदि आप देखते हैं कि स्वतंत्रता नितांत आवश्यक है और, इसलिए, व्यवस्था अनिवार्य है, तो इन प्रणालियों को जिनका हमने शताब्दियों से प्रयोग किया है छोड़ दिया जाना चाहिये।

कठिनाई यह है कि आप पुरानी प्रणालियों के अभ्यस्त हो चुके हैं और अचानक ही आप उनसे वंचित हो जाते हैं। इसलिये आपके सामने एक ऐसी समस्या खड़ी हो जाती है जिसके विषय में आपको पूर्णतया भिन्न प्रकार से विचार करना पड़ेगा। यह आपकी समस्या है। यह आपका दायित्व है। इस समस्या से आपको निवटना है। आप पुरानी प्रणालियों का प्रयोग सम्भवतः नहीं कर सकते, क्योंकि आपने समझ लिया है कि वालकों को पूर्णतया स्वतंत्र होना चाहिए और साथ ही व्यवस्था भी होनी आवश्यक है। अतः आपने जव कि अब तक एक प्राचीन फार्मूले को स्वीकार किया तथा उसी के अंतर्गत कार्य किया—फिर आपको हुआ क्या ? आपने उस फार्मूले को फेंक दिया है तथा अव उस समस्या को आप एक नये सिरे से देख रहे हैं, क्या नहीं देख रहे हैं ? आप उस समस्या को एक स्वच्छ मन से, जो कि स्वतंत्र है, देख रहे हैं।

शिक्षक : क्या यह सब देखने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति को सदा उस अवस्था में रहना ही चाहिये ?

कृष्णमूर्ति : यदि आप अभी, इसी समय, नहीं देखते और सदा देखने की माँग करते हैं तो वह मूर्खतापूर्ण होगा। एक वार देखना, समझना मानो वीजारोपण है जो पुष्पित होगा। परन्तु यदि आप कहते हैं कि आपको उसे सदा देखना चाहिये तो फिर आप अपने पुराने फार्मूले पर लौट आये हैं।

जो हुआ है, उसे देखें। शिक्षण के विषय में एवं स्वतन्त्रता तथा अनुशासन के विषय में पुरानी विचारणा के ढाँचे को आप से ले लिया गया है। अतः आप उन समस्याओं को एक भिन्न प्रकार से देख रहे हैं। और भिन्नता यह है कि आपका मन अव स्वतंत्रता और व्यवस्था की समस्या की परीक्षा के लिये, उसको समझने के लिए स्वतंत्र है। अव आप कैसे वालक को वतायेंगे कि आप उसे दण्डित करने अथवा पुरस्कृत करने नहीं जा रहे हैं और फिर भी उसे पूर्णतया स्वतंत्र तथा व्यवस्थित होना चाहिये ?

शिक्षक : मेरे विचार से शिक्षक की भी वही समस्या है जो वालक की है। उसे एक ऐसे क्षेत्र से कार्य करना चाहिये जहाँ वह अनुभव करता है कि स्वतंत्रता तथा अनुशासन साथ-साथ चलते हैं। अपनी वर्तमान विचारणाओं में वह व्यवस्था एवं स्वतंत्रता को पृथक् करता है। वह कहता है कि व्यवस्था स्वतंत्रता के विरुद्ध है और स्वतंत्रता व्यवस्था के विरुद्ध है।

कृष्णमूर्ति : मेरे विचार से हम कुछ भूल रहे हैं। जव आप देखते हैं कि दण्ड तथा पुरस्कार की प्राचीन प्रणालियां मृत हैं, आपका मन कहीं अधिक सक्रिय हो जाता है। आपको इस समस्या का समाधान खोजना है, अतः आपका मन सक्रिय हो जाता है। यदि वह सक्रिय है, तो वह समस्या के सम्पर्क में आयेगा।

क्योंकि आप स्वतंत्र हैं और स्वतंत्रता को समझते हैं तो कक्षा में आप नियमित रहेंगे, और बालक से आप स्वतंत्रता से बात करेगें, न कि किसी पूर्व निर्धारित विचार से। किसी विचार, किसी फार्मूले, किसी धारणा के आधार पर बात करना एक बात है, परन्तु एक ऐसे वास्तविक तथ्य से बात करना, जिसे आपने देखा है,—कि छात्र को पूर्णतया स्वतंत्र और इसलिये व्यवस्थित होना चाहिए—पूर्णतया एक भिन्न बात है। जब आप एक अध्यापक के रूप में स्वतंत्र एवं व्यवस्थित हैं तो आप इसका संदेश पहले ही बालक को दे रहे हैं, शाब्दिक रूप से नहीं वरन् अशाब्दिक रूप से और छात्र को उसका तत्काल ज्ञान हो जाता है।

एक बार आप इस तथ्य को देख लेते हैं कि किसी भी रूप में दण्ड तथा पुरस्कार विनाशकारी हैं, आप उन तक पुन: नहीं लौटते। उनका त्याग करने में आप स्वयं अनुशासित होते हैं और वह अनुशासन अन्वेषण की स्वतंत्रता से आया है। आप बालक को उसके तथ्य का सम्प्रेषण करते हैं न कि किसी विचार का। तब आपने केवल शाब्दिक स्तर पर ही नहीं वरन् पूर्णतया एक भिन्न स्तर पर बालक के साथ संवादशीलता स्थापित की है।

————

परिच्छेद—२

दूर-दृष्टि

मेरे विचार से इसमें से अधिकांश जानते हैं कि विश्व में क्या हो रहा है—युद्ध की संभावना है, अणु बम है, अनेक प्रकार के तनाव और द्वन्द्व हैं जिन्होंने नवीन संकट ला दिया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन चुनौतियों का सामना करने के लिए एक पूर्णतया भिन्न प्रकार के मन की आवश्यकता होती है—एक ऐसे मन की जो विशेषज्ञ नहीं है, जिसका केवल टेकनोलॉजी में ही प्रशिक्षण नहीं हुआ है, जो केवल समृद्धि की खोज में ही नहीं लगा है, वरन् जो चुनौतियों का पर्याप्त रूप में, पूरी तरह, सामना कर सकता है। और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा का यही कार्य है, एक विद्यालय का भी यही कार्य है।

योरोप, रूस, अमरीका, जापान और यहाँ, सभी जगह—टेकनीशियन, वैज्ञानिक, प्रशिक्षक, बनाये जा रहे हैं। ये विशेषज्ञ जीवन की अत्यंत जटिल चुनौती का सामना करने में अक्षम हैं। वे नितांत अक्षम हैं, फिर भी वे ही लोग हैं जो विश्व पर राजनीतिज्ञ के रूप में, वैज्ञानिक के रूप में, शासन करते हैं। वे अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं और उनका मार्गदर्शन, उनका नेतृत्व, स्पष्ट है कि असफल हो गया है, और हो रहा है। जो

समस्याएँ तात्कालिक रूप से उठती हैं वे केवल उन्हीं का सामना करते हैं। आप देखते हैं, हम केवल तत्काल की भाषा में, घटनाओं की तात्कालिकता में सोचते हैं। किसी देश की तत्काल होने वाली प्रतिक्रिया की हमें चिन्ता है, चाहे वह देश भारत की भाँति निर्धन हो अथवा पश्चिमी देशों की भाँति व्यापक रूप से समृद्ध। प्रत्येक व्यक्ति कुछ तुरन्त करने की भाषा में सोच रहा है। मैं सोचता हूँ कि हमें इस सारी समस्या को एक दूर-दृष्टि से देखना चाहिये, और मैं नहीं समझता कि कोई विशेषज्ञ इस कार्य को कर सकता है, क्योंकि विशेषज्ञ तो सदा उस भाषा में सोचता है जिसमें कार्य तुरन्त हो। यद्यपि तत्काल कार्यवाही आवश्यक है, परन्तु मेरा विचार है कि शिक्षा का कार्य एक ऐसे मन को उत्पन्न करना है जो केवल तात्कालिकता की दृष्टि से ही कार्य न करे, वरन् उसके परे भी जाय।

सारे विश्व में सत्तावादी सरकारें, पुरोहित, प्राध्यापक, विश्लेषक, मनोवैज्ञानिक, सभी मन को नियंत्रित करने में, उसे रूप प्रदान करने में, उसे निर्देशित करने में लगे हैं, और इसलिये स्वतंत्रता का अभाव है। वास्तविक समस्या यह पता लगाना है कि एक ऐसे विश्व में, जो केवल तात्कालिक सम्बन्धों में ही नहीं वरन् सामाजिक सम्बन्धों में भी इतनी बाध्यता के साथ अधिनायकवादी है, इतना क्रूर एवं उत्पीड़क है, कैसे रहा जाय और कैसे वह अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो कि ऐसे विश्व की माँगों का सामना भी किया जा सके और फिर भी मुक्त रहा जाय। मैं अनुभव करता हूँ कि सही प्रकार की शिक्षा को, मन को इस प्रकार संवर्द्धित करना चाहिये कि वह आदतों की लीक में न पड़े, वे आदतें चाहे कितनी भी महान और अच्छी क्यों न हों; टेकनोलॉजी की दृष्टि से वे कितनी भी आवश्यक क्यों न हों; शिक्षा को ऐसे मन का संवर्द्धन करना चाहिये जो असाधारण रूप से सजीव हो, ज्ञान से अथवा अनुभव से नहीं, वरन् जो सजीव हो। क्योंकि व्यक्ति के पास जितना अधिक ज्ञान होता है, उसका मस्तिष्क प्रायः उतना ही कम सतर्क होता है।

मैं ज्ञान के विरुद्ध नहीं हूँ। सीखने में और ज्ञान संचित करने में अंतर है। जब केवल ज्ञान का संचय होता है तब सीखना समाप्त हो जाता है। सीखना तभी होता है जब संचय बिल्कुल होता ही नहीं। जब ज्ञान सभी प्रकार से महत्वपूर्ण हो जाता है तब सीखने का अंत हो जाता है। जितना अधिक मैं ज्ञान जोड़ता जाता हूँ मन उतना ही सुरक्षित, उतना ही आश्वस्त हो जाता है और, इस प्रकार, सीखना बन्द कर देता है। सीखना कभी भी संचयात्मक प्रक्रिया नहीं है। जब व्यक्ति सीखता होता है, यह एक सक्रिय प्रक्रिया है, जब कि ज्ञान का संचय केवल सूचनाओं को प्राप्त करना तथा उन्हें एकत्र करने की प्रक्रिया है। इसलिये मेरे विचार से ज्ञान के संचय में और सीखने में अंतर है। सारे विश्व में ही शिक्षा केवल ज्ञान का संचय है और इसलिये मन मंद हो जाता है तथा सीखना बन्द कर देता है। मन केवल संचय कर रहा है। यही संचय जीवन को निर्देशित करता है, और इसलिये, अनुभव को सीमित करता है। जब कि सीखने की कोई सीमा नहीं है।

क्या एक विद्यालय में एक व्यक्ति केवल ज्ञान जो कि इस विश्व में जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक है, उसका ही केवल संचय न करके—एक ऐसे मन को भी प्राप्त कर सकता है जो निरंतर सीख रहा है? इन दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। एक विद्यालय में जब ज्ञान ही सब कुछ हो जाता है, तब सीखने में विरोध उत्पन्न होता है। शिक्षा का सम्बन्ध जीवन की समग्रता से होना चाहिये, न कि तत्काल उत्पन्न होने वाली चुनौतियों के प्रति तत्काल होने वाली अनुक्रिया से।

अब हम देखें कि इन दोनों में क्या अंतर्निहित है। यदि व्यक्ति तात्कालिकता की भाषा में रहता है, तत्काल होने वाली चुनौतियों के प्रति ही अनुक्रिया करता है, तो फिर वह तत्काल ही है जिसकी विभिन्न प्रकार से आवृत्ति होती रहती है। यदि इस वर्ष युद्ध है तो अगले वर्ष क्रांति और

तीसरे वर्ष औद्योगिक अशांति; यदि व्यक्ति केवल तत्काल की समस्याओं के प्रति ही जी रहा है, तो जीवन अत्यन्त सतही हो जाता है। परन्तु आप कह सकते हैं कि यही पर्याप्त है क्योंकि यही सब है जिसकी हमें चिन्ता करनी है। जीवन का सामना करने का यह एक तरीका है। यदि आप इस प्रकार से रहें तो वह एक खोखला जीवन है। आप इसे कार, किताबें, यौन, शराब, अधिक वस्त्र, आदि से भर सकते हैं, परन्तु रहेगा वह छिछला और खोखला ही। एक मनुष्य जो खोखला जीवन, छिछला जीवन जी रहा है वह हमेशा पलायन का ही प्रयत्न करता है; और पलायन का अर्थ है भ्रांति, और अधिक देवता, और अधिक विश्वास, अधिक रूढ़ि सिद्धांत, अधिक अधिनायकवादी दृष्टिकोण, अथवा अधिक फुटबाल, अधिक यौन, अधिक टेलीवीजन। उन लोगों की तात्कालिक अनुक्रियाएँ, जो केवल उसी में रहते हैं जो तत्काल है, असाधारण रूप से खोखली, व्यर्थ की और दयनीय होती हैं। यह मेरी कोई अनुभूति अथवा मेरा पूर्वाग्रह नहीं है; आप स्वयं इसे देख सकते हैं। आप कह सकते हैं कि यही पर्याप्त है, अथवा आप कह सकते हैं कि यह उतना पर्याप्त नहीं है। अतः दूर-दृष्टि की आवश्यकता है, यद्यपि मुझे क्रिया तो निःसंदेह जो तत्काल है उसी में करनी पड़ती है, जैसे जब मकान में आग लगी हो तो तुरन्त कुछ करना पड़ता है, परन्तु किसी क्रिया का वही अन्त नहीं होता। लक्ष्य 'कुछ और' भी होना चाहिये। तो बिना सत्ता को, ग्रन्थों को, पुरोहितों को बीच में लाये व्यक्ति उस 'कुछ और' को कैसे प्राप्त कर सकता है? क्या व्यक्ति उन सभी को निरस्त करके 'उस दूसरे' का अनुशीलन कर सकता है? यदि व्यक्ति 'उस दूसरे' का अनुशीलन करता है तो तात्कालिकता का अधिक व्यापक और अधिक समर्थ तरीके से उत्तर मिलेगा। तो प्रश्न है कि एक मनुष्य के ही नहीं वरन् एक शिक्षक के, एक अध्यापक के, रूप में आप उसके विषय में क्या अनुभव करते हैं?

मैं नहीं चाहता कि आप मुझसे सहमत हों। परन्तु, यदि आपने अपने मस्तिष्क पर ज़ोर दिया है, यदि आपने विश्व की घटनाओं का अन्वीक्षण किया है, यदि आपने अपनी रुझानों, अपनी मांगों, अपने धार्मिक विश्वासों का निरीक्षण किया है, यदि आपने मनुष्य की समस्त अवस्था और उसकी थरथराती-काँपती हुई निराशा को देखा है तो उस सबके प्रति आपकी क्या अनुक्रिया है ? इस अवस्था में आप क्या करते हैं, आपका इन्हें देखने का ढंग क्या है ? भूल जायें कि आप एक विद्यालय में हैं। हम मनुष्य के रूप में बात कर रहे हैं।

शिक्षक : किसी तात्कालिक चुनौती का सामना करने में, विशेष रूप से जब हम बड़े होते हैं, हमें दुश्चिंता का बोध प्रतीत होता है। क्या जब व्यक्ति बड़ा होता है, तो इसके प्रति कोई दूसरा तरीका भी है ?

कृष्णमूर्ति : "बड़े होने" से आपका क्या अर्थ है ? क्या बड़े होने को आपके किसी व्यवसाय में लगे रहने की भाषा में सोचा जाय, नित्य-चर्या की, ऊब की भाषा में, कि आप किसी व्यवसाय को करते हुए बड़े हुए ? आपका आयु से क्या अर्थ है ? आपको बड़ा क्या बनाता है ? शरीर क्षीण हो जाता है—क्यों ? क्या यह बीमारी के कारण होता है अथवा मशीन की भाँति बार-बार उसी प्रकार चलने से, आवृत्ति से ? मानस तो कभी सजीव होता ही नहीं; वह तो केवल आदत में कार्य करता रहता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही शरीर को बुढ़ापे में बदल देता है। तो मानस क्यों बूढ़ा होता है, अथवा उसे बूढ़ा होने की क्या आवश्यकता भी है ? मैं नहीं सोचता कि उसे कभी भी बूढ़ा होने की आवश्यकता है। और क्या बुढ़ापा केवल एक आदत है ? क्या आपने बूढ़े लोगों को देखा है, वे कैसे खाते हैं, कैसे वे बातें करते हैं ? और क्या यह संभव है कि मानस को असाधारण रूप से तरुण, सजीव, निष्कपट रखा जाय ? क्या मानस के लिये यह संभव है कि वह

सजीव रहे और आदत के द्वारा, सुरक्षा के द्वारा, परिवार के द्वारा, जिम्मेदारी के द्वारा, एक क्षण के लिये भी अपनी शक्ति न खोये ? निःसंदेह यह संभव है और वह तभी संभव है जबकि आप उस प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर दें जिसे आपने बनाया है। दूर-दृष्टि से मेरा यही अर्थ है। आपका एक अनुभव होता है—चाहे सुखद् या दुखद्—और वह एक संस्कार छोड़ता है और मन उसी में रहता है : "मुझे एक ऐसा विलक्षण अनुभव हुआ" अथवा "मेरा जीवन इतना दुःखद रहा," और यह अपने आप में पतनोन्मुख है। इस प्रकार, अनुभव, तथा अनुभव में जीना, पतन है।

अब हम अपने प्रश्न पर वापस आयें। आप एक ऐसे समाज में, एक ऐसे विश्व में रहने वाले मनुष्य हैं जो तत्काल क्रिया की माँग कर रहा है; तो उसे मनुष्य के रूप में इस तात्कालिक चुनौती के प्रति आपकी क्या अनुक्रिया है ? जो तात्कालिक चुनौती है वह निरन्तर आपसे तात्कालिक अनुक्रिया की माँग कर रही है, और आप उसमें फँसे हैं। तो एक माता-पिता, एक अध्यापक, एक नागरिक के रूप में आप उसके प्रति कैसे अनुक्रिया करते हैं ? क्योंकि आप अपनी अनुक्रिया के अनुसार ही उसमें फँसे हैं। यह अनुक्रिया आप चाहे सचेत रूप से करें अथवा अचेत रूप से, उसका प्रभाव मानस पर पड़ेगा ही।

शिक्षक : क्या कोई तरीका है जिससे यह दूर-दृष्टि एक वास्तविकता बन जाय, उतनी ही वास्तविकता जितना तात्कालिक वर्तमान होता है ?

कृष्णमूर्ति : निःसंदेह। क्योंकि जो तत्काल है वही वास्तविक है। अणुबम है—और रूसी, अमरीकी, फ्रांसीसी वैज्ञानिक सस्ते अणुबमों को बनाने के तरीकों का आविष्कार कर रहे हैं—ये वैज्ञानिक अपना क्षणमात्र में नाश कर सकते हैं। आपको उसके प्रति क्यों अनुक्रिया करनी चाहिये ? अणुबम है घटनाओं की एक लम्बी श्रृंखला का अर्थात्

राष्ट्रवाद, उद्योगवाद, वर्ग-भेद, लोलुपता, द्वेष, घृणा, महत्वाकांक्षा, आदि का परिणाम—इन सबने अणुबम उत्पन्न किया है। बिना इन सबको समझे आपका उत्तर होता है कि अमरीका अथवा रूस को अणुबम उत्पन्न करने से रोक देना चाहिये और आप उसे एक वास्तविक अनुक्रिया कहते हैं। किसी समस्या का उसकी सम्पूर्णता में उत्तर न देकर उसके किसी एक अंश का उत्तर देने से क्या लाभ? इसलिए यदि यही वास्तविक है और आप देखते हैं कि यह वास्तविकता ऐसी अपरिपक्व अनुक्रियायें उत्पन्न करती हैं, तो यह आवश्यक है कि आप दूसरे का अनुसरण करें। तो यह जान करके कि जो तत्काल है आपको उसके प्रति तो अनुक्रिया करनी ही है, साथ ही आपके पास दूर-दृष्टि भी होनी चाहिए तो आप एक शिक्षक के रूप में यह सब कैसे सम्भव करेंगे? किसी को उस 'दूसरे' की चिन्ता नहीं है; कोई शिक्षक भी उस दूर तथा व्यापक दृष्टि की चिन्ता नहीं करता। आज की शिक्षा केवल उसी की चिन्ता करती है जो तत्काल है। परन्तु यदि जो तत्काल है उससे आप असंतुष्ट हैं, तो बिना इस तत्काल की उपेक्षा किये 'उसका' अनुशीलन आप कैसे करेंगे? क्या आप इसकी आवश्यकता को देखते हैं?

क्या मैं इस समस्या को दूसरी तरह रखूं? कोई व्यक्ति कैसे मन को इस प्रकार तरुण रख सकता है कि वह कभी बूढ़ा न हो और कभी यह न कहे, "मैंने बहुत पा लिया है," और फिर एक कोना खोज ले जिसमें वह पड़ा रहे और सड़ता रहे? यह एक प्रवृत्ति है, यह एक वास्तविक तथ्य है। किसी पद को प्राप्त करना कठिन है, परन्तु यदि एक बार आपने उसे प्राप्त कर लिया तो आप निष्क्रिय हो जाते हैं। विश्व में प्रत्येक वस्तु दूर-दृष्टि को नष्ट कर रही है। पुस्तकें, समाचार-पत्र, राजनीतिज्ञ, पुरोहित, प्रत्येक वस्तु आपको प्रभावित करती हैं, और व्यक्ति कैसे इन सबसे बाहर निकले? आपको भ्रष्ट किया जा रहा है और फिर भी आपको कार्य करना है और आप उससे बाहर नहीं निकल सकते।

जीवन ही विनाश है, जीवन ही प्रेम है, जीवन ही सर्जन है। हम इसमें से किसी को नहीं जानते। यह एक भीषण वस्तु है। तो आप इस सब को शिक्षा के रूप में कैसे परिवर्तित करेंगे ?

शिक्षक : क्या एक की कीमत पर दूसरी दृष्टि का अनुशीलन करना संभव है ? क्या यह संभव है कि हम संकुचित दृष्टि का नाश कर दें ?

कृष्णमूर्ति : समस्या यह नहीं है कि हम इन सब कष्टों से दूर कैसे भाग जायें अथवा उन दोनों को कैसे संयुक्त करें। आप लघु को विशाल के साथ संयुक्त नहीं कर सकते; विशाल को लघु में होना है।

शिक्षक : परन्तु क्या आरम्भ में लघु का अनुशीलन करना तथा वाद में विशाल पर आना अच्छा नहीं होगा ?

कृष्णमूर्ति : कभी नहीं। यदि आप कहते हैं कि लघु पहला कदम है तो आप भ्रम में पड़ गये हैं। आप लघु के फन्दें में पड़ गये हैं। इसको आप स्वयं सोचें। यदि आप लघु को स्वीकार कर लेते हैं, तो आप हैं कहाँ ? आप उसके फंदे में फँस जायेंगे, क्या नहीं फँसेंगे—लघु परिवार, लघु मकान, लघु पति, लघु धन, लघु कपड़े ? आपने लघु को महत्व प्रदान कर दिया है, लघु पहले और इसलिये समाज में आपका कोई दायित्व नहीं रह गया। आप सभी वड़े भयानक रूप से प्रतिष्ठित हैं, विशिष्ट हैं। आप लघु को पहले क्यों रखते हैं ? क्योंकि वह सवसे सरल तरीका है।

शिक्षक : व्यक्ति कैसे लघु को पकड़ता तथा उसे समझता है ?

कृष्णमूर्ति : आप केवल विशाल को ही समझ सकते हैं। लघु लेशमात्र भी महत्वपूर्ण नहीं है, आपने उसे महत्वपूर्ण वना दिया है।

यह वहुत कोमल और सूक्ष्म वस्तु है, कि आपके अंदर क्षमता हो और फिर भी आप उसके दास न वनें, कि आपको जिन वस्तुओं के प्रति

अनुक्रिया करनी है उनके प्रति तत्काल अनुक्रिया करें, और आप में यह असाधारण गहराई और ऊँचाई और व्यापकता हो।

लघु को अस्वीकार कीजिये। क्या आप जानते हैं कि अस्वीकार का क्या अर्थ है? अस्वीकार इसलिये न कीजिये कि आप के पास दूर-दृष्टि है, बल्कि इसलिये कीजिये कि जिसे आप अस्वीकार करते हैं वह मिथ्या है।

———

परिच्छेद—३

क्रियाशीलता

कृष्णमूर्ति : क्या हम क्रियाशीलता की तात्कालिकता के प्रश्न पर विचार करें? क्रियाशीलता हममें से प्रत्येक की अनिवार्यता है, अतः इसमें तात्कालिकता से युक्त दूर-दृष्टि होनी चाहिये। परन्तु तात्कालिकता में विशालता, विस्तार एवं गहनता निहित नहीं हैं। विश्व भर में अधिकांश व्यक्ति जो बौद्धिक हैं एवं विद्वान भी, ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक चुनौतियों के तात्कालिक अनुक्रियाओं में जकड़े हुये हैं। अधिक से अधिक वैज्ञानिकों की, इन्जीनियरों की, टेकनीशियनों की आवश्यकता है और शिक्षा को तैयार किया जा रहा है कि वह उन्हें उत्पन्न करे। तात्कालिक माँग स्वीकार की जाती है और उसका उत्तर दिया जाता है और इस तरह मेरे विचार से व्यक्ति व्यापक दृष्टि खो देता है; फलस्वरूप व्यक्ति का मन और शरीर और उसके संवेग बड़े छिछले और खोखले हो जाते हैं। क्या हमें वास्तव में इस समस्या की अनुभूति है, शाब्दिक रूप से नहीं, वरन् अपरोक्ष प्रत्यक्ष के द्वारा, कि अध्यापक कैसे छात्र को केवल टेकनिकल ज्ञान के लिये नहीं वरन् जीवन के एक व्यापक एवं गहरे अवबोध के लिये तैयार करे।

आप शिक्षा में इसे कैसे व्यवहृत करेंगे? क्या आप यही करने यहाँ नहीं आये हैं? और यदि आपने इसको अभी तक नहीं किया है तो आप

इसे कैसे आरम्भ करेंगे ? यहाँ, इस ऋषिवैली में, मेरा विश्वास है, कि विद्यालय का आरम्भ एक भिन्न प्रकार की शिक्षा के लिये हुआ था। उसका लक्ष्य बालक को ज्ञान देना मात्र नहीं था, वरन् यह समझाना था कि ज्ञान ही जीवन का लक्ष्य नहीं है; बल्कि वृक्षों के प्रति, सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील होना तथा यह जानना कि प्रेम क्या है, उदारता क्या है, सहृदयता क्या है, भी आवश्यक है। तो आप इसे कैसे आरम्भ करेंगे ?

सबसे पहले यह नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसे कुछ लोग हों जिनमें यह अनुभूति हो और जिनमें केवल ज्ञान ही प्रदान करने का नहीं वरन् इन पहाड़ियो के परे देखने का उत्साह हो, संबोध हो, क्षमता हो। यदि मैं यहाँ होता और यदि इसकी आवश्यकता का अनुभव करता कि एक छात्र को शैक्षिक रूप से अति प्रवीण होना चाहिये और उसके साथ ही उसे नृत्य करना, गाना, वृक्षों का, पर्वतों का अवलोकन करना आना चाहिये और उसे यह भी जानना चाहिये कि कैसे स्त्री को विना सामान्य यौन भावना के देखा जाय एवं जीवन के असाधारण सौन्दर्य पर विचार कैसे करना चाहिये, दुःख को कैसे जानना चाहिये और दुःख के परे कैसे जाना चाहिये—यदि मैं यहाँ होता तो इस सबके विषय में मैं कैसे आरम्भ करता ?

यदि मैं यहाँ होता और यदि मेरा यही एक काम होता तो आप में से किसी को भी मैं अकेले न छोड़ता। जिस तरह आप वात करते हैं, वस्त्र पहनते हैं, देखते हैं, व्यवहार करते हैं, भोजन करते हैं, सबके विषय में मैं आपसे चर्चा करता; सारे समय मैं यही करता—और सम्भवतः आप मुझे एक तानाशाह कहते और प्रजातंत्र तथा स्वतंत्रता की बात करते। मैं नहीं समझता कि यह प्रजातंत्र, तानाशाही और स्वतंत्रता का प्रश्न है। इससे सत्ता का प्रश्न उठता है। हमने इसकी बड़ी मात्रा में, इस जगह पर जब कभी मैं यहाँ आया हूँ चर्चा की है; फिर भी, हम पुनः इस सत्ता के प्रश्न पर विचार-विमर्श करें।

मेरी दृष्टि में सत्ता बड़ी भयानक है, विनाशकारी है। सत्ता का लक्षण निरंकुशता है, चाहे वह पुरोहित की सत्ता हो, पुलिस वाले की हो अथवा कानून की हो। ये सब वाह्य सत्ताएँ हैं। आन्तरिक सत्ताएँ भी होती हैं—ज्ञान की सत्ता, स्वयं अपने सम्मान की सत्ता, अपने उन अनुभवों की सत्ता जो जीवन के प्रति अभिवृत्तियों को निर्धारित करती हैं। इस सबसे सत्ता का जन्म होता है और आपको विना इस सत्ता का उपयोग किये वालक की देखभाल करनी है, आपको यह देखना है कि उसकी अभिरुचि अच्छी है, कि वह सही कपड़े पहनता है, सही भोजन करता है, कि उसकी वाणी में, उसके चलने के ढंग में एक गौरव है; आपको उसे खेल भी सिखाने हैं—प्रतिद्वन्द्विता और कठोरता के लिये नहीं—वरन् केवल खेल के ही लिये। विना किसी सत्ता के वालक में यह सब जागृत करना अत्यधिक कठिन है और इसी कठिनाई के कारण आप सत्ता की शरण लेते हैं।

विद्यालय में अनुशासन आवश्यक है। तो क्या विना सत्ता का प्रयोग किये आप अनुशासन ला सकते हैं? वच्चों को समय पर नियम से भोजन के लिये आना चाहिये, भोजन के समय निरन्तर बात नहीं करनी चाहिये, प्रत्येक वस्तु सामञ्जस्यपूर्ण तथा स्वतंत्रता एवं स्नेह के भाव से होनी चाहिये; इसके साथ ही वच्चों के अन्दर आत्म सम्मान के प्रति एक ऐसी जागरूकता भी उदित होनी चाहिये जिसमें सत्ता की भावना न हो।

ऐसे ज्ञान का अनुदान जिसका लक्ष्य मात्र ज्ञान हो और जो मस्तिष्क को दूर दृष्टि के लिए शिक्षित करे, जीवन का व्यापक अववोध दे सके, सत्ताधारित शिक्षा के लिये दे सकना सम्भव नहीं है।

शिक्षक : विना अनुशासन के, विना नियन्त्रण तथा सत्ता के, वालक में एक आन्तरिक व्यवस्था उत्पन्न करना अत्यधिक कठिन है। वड़े लोगों के विषय में स्थिति वालकों से भिन्न होती है।

कृष्णमूर्ति : मुझे इसमें संदेह है। हम स्वयं तो प्रतिबद्ध हैं ही और बालकों को भी प्रतिबद्ध किया जा रहा है। क्या शिक्षा एक क्रान्तिकारी मन उत्पन्न कर सकती है ? कठिनाई यह है कि इसको बहुत छोटी आयु में ही आरम्भ करना होता है, न कि जब बालक चौदह वर्ष के या उससे बड़े हो जायें। तब तक तो वे बन चुके होते हैं और नष्ट हो चुके होते हैं। तो प्रश्न है कि यदि वे बहुत छोटी आयु में आपके पास आये होते तो उनमें इस भावना को उत्पन्न करने के लिये आप क्या करते कि केवल यौन, धन और पद के अतिरिक्त कुछ दूसरी भी वस्तुयें हैं ?

ज्ञान के रूप में बालक को जो सूचनाएँ आप देते हैं उसके अतिरिक्त आप उसे यह कैसे दिखाते कि संसार केवल जो तत्काल है वही नहीं है, वरन् उससे भी कहीं बड़ी वस्तुएँ हैं ? प्रथमतः आपको और मुझे इसका अनुभव करना होता है; केवल इसलिये नहीं कि मैं इसके विषय में चर्चा करता हूँ या आप उसके विषय में चर्चा करते हैं। बल्कि मेरे अन्दर उसकी जलती शिखा होनी चाहिये और यदि मेरे अन्दर वह जलती शिखा है तो बालक को प्रभावित किये बिना मैं इस जलती शिखा को उसे कैसे सम्प्रेषित कर सकता हूँ ? क्योंकि जब मैं बालक को प्रभावित करता हूँ तो मैं उसे नष्ट करता हूँ; उसे मैं उस प्रतिमा के अनुकूल बनाता हूँ जो मेरे पास है। इसलिये यद्यपि मैं उसके विषय में बहुत कुछ करना चाहता हूँ, फिर भी मुझे यह समझना चाहिये कि छात्र के साथ अपने सम्बन्ध में मुझे उसके अंदर अनुकरणात्मक अभिवृत्ति और क्रियाशीलता को प्रोत्साहित नहीं करनी चाहिये, चाहे वह छात्र कितना भी छोटा क्यों न हो। यह सब अत्यधिक कठिन है। यदि मैं किसी से प्रेम करता हूँ, मैं चाहता हूँ कि वह भिन्न बने, भिन्नता से काम करे, जीवन को समझे, पृथ्वी के सौन्दर्य का अनुभव करे। क्या बिना प्रभावित किये, बिना अनुकरणात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न किये, उसे मैं यह सब दिखा सकता हूँ ?

शिक्षक : इसके पहले कि हम बिना छात्र को प्रभावित किये उसकी सहायता करें, क्या कोई ऐसी भी दृष्टि है जिसे हम अपने में स्थापित करें, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे जीवन में भी अनेक अंतर्विरोध हैं ?

कृष्णमूर्ति : उसे स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि हम बदलें, अंतर्विरोधों को दूर करें, घातक भावनाओं को मिटा डालें। इसमें अनेक दिन भी लग सकते हैं अथवा संभवत: ऐसा भी हो सकता है कि कोई समय ही न लगे। हम कहते हैं कि विश्लेषण के द्वारा, जागरुकता के द्वारा, प्रश्न करके, अन्वेषण करके, गहराई में जा करके ऐसा किया जा सकता है। इस सबमें समय लगता है। परन्तु समय एक खतरा है। क्योंकि जिस क्षण परिवर्तन के लिए हम समय की ओर देखते हैं, वह वास्तव में जो हो रहा है उसी का सातत्य हो जाता है। यदि मुझे अपने मन की जाँच करनी पड़े, और अपनी क्रियाओं के प्रति, अपनी प्रतिबद्धता के प्रति, अपनी माँगों के प्रति जागरूक होना हो तो इस सबमें समय निहित है। आमूलक्रांति के लिये समय को साधन समझना भ्रम है। और जब आमूलक्रांति की समस्या के लिये मैं समय की भूमिका लाता हूँ, तो आमूलक्रांति स्थगित हो जाती है, क्योंकि तब मात्र समय मेरी इस इच्छा का सातत्य हो जाता है कि मैं जैसा हूँ वैसा ही बना रहूँ। फ्रेंच सीखने के लिये समय आवश्यक है। फ्रेंच सीखने में समय लगता है, यह भ्रम नहीं है। परन्तु अपने में समय के माध्यम से मैं कोई मनोवैज्ञानिक, मानसिक परिवर्तन करूँ तो यह भ्रम है, क्योंकि यह आलस्य को, स्थगन को, उपलब्धि के बोध को, दर्प को प्रोत्साहित करता है। जब आमूलक्रांति के लिये मैं समय का उपयोग एक साधन के रूप में करता हूँ तो इसमें यह सब निहित है। अत: यदि मैं इस आमूलक्रांति के लिये समय की ओर बिल्कुल देखूँ ही नहीं तो क्या होता है ?

यह एक अद्‌भुत विषय है। सभी धार्मिक व्यक्तियों ने समय को परिव-

र्तन का एक साधन के रूप में माना है और हम यह पाते हैं कि आमूल-क्रांति वास्तव में केवल समयातीत ही हो सकती है—समय द्वारा नहीं।

शिक्षक : क्या यह समस्त सर्जनशील क्रिया के विषय में लागू नहीं होता ?

कृष्णमूर्ति : निसंदेह होता है। तो क्या मेरा मन समय को आमूलक्रांति के साधन के रूप में प्रयोग करने से अस्वीकार कर सकता है ? क्या आप इसके सौन्दर्य को देखते हैं ? तब क्या होता है ?

जिस वस्तु में मैं परिवर्तन चाहता हूँ उसे समय द्वारा संयोजित किया गया है, वह समय का परिणाम है, और मैं समय को अस्वीकार करता हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं उस वस्तु को उसकी समग्रता में अस्वीकार करता हूँ और इसलिए आमूलक्रांति ने तो स्थान ले ही लिया। मैं नहीं जानता कि आप इसे देखते हैं। यह कोई शाब्दिक चतुराई नहीं है।

क्या आपने इसे समझा ? यदि मैं एक हिन्दू के रूप में अपनी प्रतिबद्धता को अस्वीकार कर दूँ, जो कि समय का परिणाम है, और मैं समय को हीं अस्वीकार करता हूँ, तो मैं उस समग्र वस्तु को ही अस्वीकार करता हूँ। मैं उसके बाहर चला जाता हूँ। यदि मैं कर्म-काण्ड को अस्वीकार करूँ—चाहे वह ईसाई हो, हिन्दू हो, अथवा बौद्ध हो,—और इसलिए अस्वीकार करूँ कि वह समय का परिणाम है, तो मैं उससे बाहर हूँ। मुझे यह नहीं पूछना पड़ता कि आमूलक्रांति कैसे लायी जाय। जब वह वस्तु स्वयं समय का ही परिणाम है और मैं समय को अस्वीकार करता हूँ—तो वह समाप्त है।

इसलिये, वह मन जिसमें आमूलक्रांति हुई है, वह मन तब शिक्षा दे सकता है, अवलोकन कर सकता है, परिवेशगत कर्मों की एक निश्चित श्रृंखला को उत्पन्न कर सकता है। ज्ञान के संचय के लिए हम समय को अस्वीकार नहीं कर सकते, परन्तु क्या समय का कहीं और अस्तित्व है ?

शिक्षक: दूसरी क्रियाओं के लिए भी तो समय की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम वस्तुओं को कुछ बेतुके ढंग से करते हैं और इसलिए समय हमें भारी लगता है। यदि इन सभी बातों में समय का समझना इतना आसान है तो हम उससे बाहर क्यों नहीं निकल पाते ?

कृष्णमूर्ति : परन्तु यदि आप अपना सारा ध्यान समय के माध्यम से आमूलक्रांति पर न देकर समय को ही अस्वीकार करने में दें तो आप इस स्थिति में होंगे कि पूर्णतया भिन्न प्रकार से शिक्षण कर सकें। बालक एवं बालिकाएँ यहाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हैं और यदि इस ज्ञानको आप इस प्रकार ध्यान से दें कि आप सूचनाएँ देने में ही समय का प्रयोग न कर डालें तो आप उनके मन को तीव्र बनाते हैं।

इसी में, अर्थात् मन को जाग्रत करने में, उसे नितांत सजीव बनाये रखने में, मेरी रुचि है। हम कहते हैं कि मन को ज्ञान के द्वारा सजीव रखा जा सकता है और इसलिए हम ज्ञान उड़ेलते हैं, परन्तु वह मन को केवल मंद बनाता है। एक ऐसा मन जो समय की सीमा में कार्य करता है, एक सीमित मन ही है। पर वह मन जो समय की परिधि में कार्य नहीं करता वह विलक्षण रूप से सतर्क है, अत्यंत सजीव है और अपनी सजीवता वह एक ऐसे मन को भी दे सकता है जो अभी खोज में, अन्वेषण में, लगा है, जो सरल है। अत: हमने किसी नवीन वस्तु को खोजा है। आपने और मैंने कुछ खोजा है। मैंने आपको कुछ दिया है। हमने मिलकर यह पता लगाया है कि मन समय की परिधि के अंदर कार्य करता है और वह मन समय का परिणाम है। ऐसी अवस्था में मन केवल सूचना दे सकता है। ऐसा मन सीमित है। परन्तु एक ऐसा मन जो समय की भाषा में नहीं काम कर रहा है, नहीं सोच रहा है, यद्यपि वह समय का उपयोग करता है तो दूसरे के मन को भी तीव्र बनायेगा और उस अवस्था में ज्ञान विनाश-

कारी नहीं होगा। आप देखते हैं ऐसा मन सीखने की अवस्था में है, न कि संचय करने की। अतः ऐसा मन सदा सजीव है; ऐसा मन सदा तरुण है।

इस विद्यालय में कुछ बालक पहले ही बूढ़े हो चुके हैं, क्यों कि उनका लगाव केवल ज्ञान के संचय से है न कि सीखने से। और सीखना समय के परे होता है। तो मन को तीव्र करने के लिए, उसे सदा अद्‌भुत रूप से सजीव रखने के लिये, आप कैसे आरम्भ करेंगे ?

आपको उस मन के लक्षण को समझना है जिसमें आमूलक्रांति हो चुकी है। वह परिवर्तन उसी समय हो चुका जब आप समय को अस्वीकार कर देते हैं। आपने समस्त अतीत को निकाल कर बाहर फेंक दिया। आप न तो अब हिन्दू हैं और न ईसाई। तो ऐसा मन जिसमें आमूलक्रांति हो चुकी है कैसे शिक्षण करेगा, अपनी क्रियाशीलता को कैसे व्यवहृत करेगा ? उस ज्ञान को देने में जिसमें समय निहित है वह कैसे कार्य करेगा और कैसे इसके बावजूद भी बालक के मन को तीव्र सजीवता की अवस्था में रखेगा ? पता लगाएँ।

———

परिच्छेद—४

सच्ची अस्वीकृति

शिक्षक : बालकों से की गई अपनी एक वार्ता में आपने कहा था कि समस्या के उत्पन्न होने पर हमें इसका तत्काल ही समाधान करना चाहिए। इसे हम कैसे कर सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति : समस्या के तत्काल समाधान के लिए आपको समस्या को समझना होता है। तो समस्या का क्या समझना समय की बात है अथवा वह प्रत्यक्षीकरण की, परिवेक्षण की गहनता का प्रश्न है ? मान लें मेरी एक समस्या है, मैं अहंकारी हूँ। वह मेरे लिए इस अर्थ में एक समस्या है कि वह मेरे अंदर एक द्वन्द्व, एक अंतर्विरोध उत्पन्न करती है। यह एक तथ्य है कि मैं अंहकारी हूँ और एक दूसरा भी तथ्य है कि मैं अंहकारी होना नहीं चाहता। सबसे पहले मुझे इस तथ्य को समझना है कि मैं अंहकारी हूँ। मुझे उस तथ्य के साथ रहना है। यही आवश्यक नहीं है कि मैं उस तथ्य के प्रति तीव्रता से जागरूक हो जाऊँ, मुझे उसे पूर्णतया समझना चाहिए। तो क्या समझना समय की बात है ? मैं उस तथ्य को तुरन्त देख सकता हूँ, क्या नहीं देख सकता ? प्रत्यक्ष की अथवा देखने की जो यह तात्कालिकता है वह उस तथ्य को समाप्त कर देती है। जब मैं सूर्य देखता हूँ तो तत्काल क्रिया होती है। परन्तु मैं अंहकार को इसी प्रकार नहीं देखता—जब

मैं अंहकार को देखता हूँ तो या तो मैं उसे पसन्द करता हूँ और उसे जारी रखता हूँ, या उसे नहीं चाहता क्योंकि वह द्वन्द्व उत्पन्न करता है। यदि वह द्वन्द्व न उत्पन्न करता होता तो कोई समस्या ही नहीं उठती।

प्रत्यक्षीकरण एवं अवबोध काल गत नहीं है। प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है गहन परिवेक्षण, ऐसा परिवेक्षण जो कि समग्र है। किसी वस्तु को समग्रता से देखने का क्या स्वरूप है ? किसी वस्तु से तत्काल ही निबटने की, अपनी समस्त अविभाजित शक्ति के साथ उसका सामना करने की क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य, प्रेरणा व्यक्ति में कहाँ से आती है ? जिस क्षण आपकी शक्ति विभाजित हो जाती है, आप द्वन्द्व में पड़ जाते हैं और इसलिये साक्षात् नहीं होता, किसी वस्तु का समग्रता से प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। तो जब आप एक (कोब्रा) सर्प देखते हैं तो वह शक्ति कहाँ से आती है जिससे आप एक दम उछल पड़ते हैं ? वे प्रक्रियाएँ क्या हैं जो आपके समस्त व्यक्तित्व को, चाहे वह मनोवैज्ञानिक हो या शारीरिक, उछाल देती हैं, जिससे कि किसी तरह की दुविधा नहीं होती, जिससे कि तत्काल प्रतिक्रिया होती है ? तो उस तात्कालिकता का क्या कारण है ? उस क्रिया में जो तत्काल होती है अनेक वस्तुएँ निहित हैं—उसमें भय है, स्वाभाविक सुरक्षा है जिसको वहाँ होना ही चाहिए, इसका ज्ञान है कि (कोब्रा) सर्प एक विषैली वस्तु है।

तो अंहकार की समाप्ति के लिए भी हमारे अन्दर उसी प्रकार की शक्तिशाली क्रिया क्यों नहीं होती ? मैं अहंकार को एक दृष्टान्त के रूप में ले रहा हूँ। यहाँ शक्ति के अभाव के कारण में अनेक बातें निहित हैं। मैं अहंकार को पसन्द करता हूँ; विश्व उस पर आधारित है; वह सामाजिक प्रारूप का आधार है; यह मुझे एक विशेष प्रकार की शक्ति, एक विशेष प्रकार की प्रतिष्ठा एवं विशिष्टता प्रदान करता है—एक ऐसा बोध कि मैं दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक श्रेष्ठ हूँ। अहंकार की समाप्ति के लिए जो शक्ति आवश्यक है उसके लिए यह सब बाधक बनता है। तो, या तो मैं उन सब

कारणों का विश्लेषण करता हूँ जो मेरी क्रिया में बाधक बने हैं, अहंकार से निपटने की मेरी शक्ति को अवरुद्ध करते हैं, अथवा मैं तत्काल ही साक्षात् कर लेता हूँ। विश्लेषण एक काल की प्रक्रिया है, वह एक स्थगन की प्रक्रिया है। जब मैं विश्लेषण कर रहा हूँ, अहंकार बना रहता है और समय उसको समाप्त करने नहीं जा रहा है। इसलिये मुझे अहंकार का समग्रता में साक्षात करना होता है और ऐसा करने की शक्ति का मुझमें अभाव है। तो विघटित शक्ति को एकत्रित करने के लिये यह आवश्यक है कि मैं केवल तभी उसको एकत्र न करूँ जब अहंकार जैसी समस्याएँ मेरे सामने आती हैं, वरन् उसे सदा एकत्र करता रहूँ, उस समय भी जब कि कोई समस्या नहीं होती। ऐसा नहीं है कि हमारे सामने सदा समस्याएँ रहती ही हों। ऐसे क्षण भी हैं जब हमारे पास समस्याएँ नहीं होतीं। यदि उन क्षणों में हम शक्ति एकत्रित करते हैं, एकत्रित इस अर्थ में कि हम जागरुक हैं, तो जब समस्या आती है तो हम उसका सामना कर सकते हैं बिना विश्लेषण की प्रक्रिया के माध्यम में गये हुये।

शिक्षक : एक दूसरी भी कठिनाई है : जब कोई समस्या नहीं होती और इस शक्ति का एकत्र करना भी नहीं होता, किसी-न-किसी प्रकार का मानसिक कार्य चलता ही रहता है।

कृष्णमूर्ति : केवल आवृत्ति में, स्मृति की प्रतिक्रिया में, अनुभव की प्रतिक्रिया में लगे रहना शक्ति की बरबादी है। यदि आप मन का निरीक्षण करें तो आप देखेंगे कि आनन्दप्रद घटना अपनी पुनरावृत्ति करती रहती है। आप उस पर पुनः जाना चाहते हैं, आप उसके विषय में सोचना चाहते हैं, और इस प्रकार वह एक प्रकार से स्वतःप्रेरित गति प्राप्त कर लेती है। जब मन सचेत है कि व्यर्थ कुछ नहीं हो रहा है, तो क्या यह सम्भव है कि उस स्वतःप्रेरित गति को, उस विचार को पुष्पित होने दिया जाय? जिसका अर्थ है कि "यह सही है अथवा गलत है," यह कभी न कहा जाय,

वरन् उस विचार के साथ जीवित रहा जाय; एक ऐसी अनुभूति हो जिसमें विचार विकसित हो सके जिससे कि स्वतः ही वह अपने अन्त को प्राप्त कर ले।

क्या हमें इस समस्या को भिन्न प्रकार से देखना चाहिये ? हम एक ऐसी पीढ़ी के निर्माण की चर्चा करते रहे हैं जिसका मन एक नवीन गुण से सम्पन्न हो। ऐसा हम कैसे कर सकते हैं ? यदि मैं यहाँ अध्यापक होता तो यह मेरी चिन्ता होती—और स्पष्ट है कि एक अच्छे शिक्षक के हृदय में यह चिन्ता होती ही है—कि कैसे एक नवीन मन को, एक नई संवेदना को, वृक्षों, आकाशों, स्वर्गों, झरनों के लिए एक नवीन अनुभूति को उत्पन्न किया जाए; कि कैसे एक नई चेतना को, पुरानी चेतना को नये रूप में ढाल कर नहीं, वरन् एक नवीन चेतना को लाया जाय। मेरा तात्पर्य एक पूर्णतया नवीन मन से है जो अतीत के द्वारा भ्रष्ट नहीं हुआ है। यदि यह मेरी चिन्ता है तो इसके विषय में मुझे कैसे आरम्भ करना होता है ?

सबसे पहले यह प्रश्न है कि क्या ऐसे नवीन मन को उत्पन्न करना सम्भव है ? ऐसे मन को नहीं जो किसी नये प्रारूप में अतीत का ही सातत्य है, वरन् एक ऐसे मन को जो मलीन नहीं हुआ। क्या यह सम्भव है अथवा यही ठीक है कि अतीत का ही वर्तमान में सातत्य रहना चाहिए और उसी में परिवर्तन करके एक नवीन प्रारूप को उत्पन्न करना चाहिए ? परन्तु उस अवस्था में फिर वह नई पीढ़ी न होगी, वह एक नये रूप में पुरानी पीढ़ी की ही आवृत्ति होगी।

मेरे विचार से एक नई पीढ़ी का सृजन सम्भव है। और मैं पूछता हूँ : कैसे मैं न केवल अपने ही अन्दर इसका अनुभव करूँ वरन् छात्र के लिए भी इसे अभिव्यक्त करूँ ?

यदि प्रयोगात्मक रूप से अपने अन्दर मैं किसी वस्तु को देखता हूँ, तो मैं इसे छात्रों के लिए बताने में भी कैसे चूक सकता हूँ? स्पष्ट है कि यह मेरा और दूसरे का प्रश्न नहीं है, वरन् एक पारस्परिक वस्तु है, क्या नहीं है?

तो मैं कैसे ऐसा मन उत्पन्न करूँ जो मलीन नहीं है? आप और मैं नवजात शिशु नहीं हैं; हमें समाज द्वारा, हिन्दू मत द्वारा, शिक्षा द्वारा, समाचार-पत्रों द्वारा भ्रष्ट किया जा चुका है। इस भ्रष्टता से बाहर हम कैसे निकलें? क्या मैं यह कहूँ कि यह मेरे अस्तित्व का ही एक अंग है और मैं उसे स्वीकार करता हूँ? मैं क्या करूँ? यहाँ एक समस्या है—कि हमारे मन भ्रष्ट हैं। बड़े लोगों के लिए इससे बाहर निकलना बहुत कठिन है। आप अपेक्षाकृत छोटे हैं और समस्या यह है कि मन को भ्रष्टता से मलीन न किया जाय; इसको कैसे किया जाय?

या तो यह सम्भव है या सम्भव नहीं है। तो कैसे इसका पता लगाया जाय कि यह सम्भव है या नहीं? मैं चाहूँगा कि आप इस समस्या में गहराई से प्रवेश करें।

क्या आप जानते हैं कि "अस्वीकृति" शब्द का क्या अर्थ है? अतीत को अस्वीकार करना अथवा हिन्दू होने से अस्वीकार करना, इसका क्या अर्थ है? आप "अस्वीकृति" शब्द से क्या समझते हैं? क्या आपने कभी किसी वस्तु की अस्वीकृति की है? अस्वीकृति सच्ची भी होती है और मिथ्या भी होती है। जिस अस्वीकृति के पीछे कोई हेतु होता है वह मिथ्या अस्वीकृति है। किसी प्रयोजन से, किसी इरादे से, अथवा भविष्य का ध्यान रखकर अस्वीकार करना, अस्वीकृति नहीं है। यदि मैं किसी वस्तु को इसलिये अस्वीकार करूँ कि मुझे कोई वस्तु और अधिक मिल जाय, तो वह अस्वीकृति नहीं है। परन्तु एक ऐसी भी अस्वीकृति होती है जिसमें कोई प्रयोजन नहीं होता। जब मैं अस्वीकार करता हूँ और यह नहीं जानता कि भविष्य

में मेरे लिये क्या है, तो वह सच्ची अस्वीकृति होती है। मैं एक हिन्दू होने से अस्वीकार करता हूँ। मैं किसी संगठन का होने से अस्वीकार करता हूँ, मैं किसी विशेष सम्प्रदाय का होने से अस्वीकार करता हूँ, और उस अस्वीकृति में मैं अपने को पूर्णतया असुरक्षित कर लेता हूँ। क्या आप ऐसी अस्वीकृति से परिचित हैं और क्या आपने किसी वस्तु को कभी अस्वीकार किया है? क्या आप अतीत को इस रूप में कभी अस्वीकार कर सकते हैं कि आपको यह न पता हो कि भविष्य में क्या है? क्या आप जो ज्ञात है उसको अस्वीकार कर सकते हैं?

शिक्षक : जब मैं किसी वस्तु को, मान लीजिए हिन्दू मत को ही अस्वीकार करता हूँ, तो उस अस्वीकृति के साथ-साथ हिन्दू मत का अवबोध भी होता है।

कृष्णमूर्ति : हम इस पर चर्चा कर रहे थे कि एक नवीन मन को कैसे उत्पन्न किया जाय और क्या वह संभव है? जो मन भ्रष्ट है, मलीन है, नवीन नहीं हो सकता। इसलिये हम भ्रष्टता से विमुक्त होने की चर्चा कर रहे थे और विचार कर रहे थे कि क्या यह संभव है? और उसके सम्बन्ध में मैंने इस प्रश्न से आरम्भ किया था कि अस्वीकृति का क्या अर्थ है, क्योंकि मेरे विचार से अस्वीकृति का उससे बड़ा सम्बन्ध है। अस्वीकृति का एक नवीन मन से सम्बन्ध है। यदि मैं स्पष्ट रूप से अस्वीकार करता हूँ, बिना कारण के, बिना प्रयोजन के, तो वह एक वास्तविक अस्वीकृति है। तो क्या यह संभव है? यदि मैं पूर्णतया अस्वीकार न करूँ उस समाज को जिसमें तमाम राजनीति, अर्थशास्त्र, सामाजिक सम्बन्ध, महत्वाकांक्षा, लालच, आदि निहित हैं—यदि मैं इस सबको पूर्णतया अस्वीकार न करूँ तो एक नवीन मन को प्राप्त करने का क्या अर्थ है, यह समझना असंभव है। इसलिये सबसे पहला काम है उन वस्तुओं की अस्वीकृति जिन्हें मैंने जान लिया है। क्या यह संभव है?

स्पष्ट है कि औषधियाँ एक नया मन नहीं उत्पन्न कर सकेंगी; अतीत के पूर्ण अ.वीकार के अतिरिक्त और कुछ भी नवीन मन नहीं उत्पन्न कर सकता। क्या यह संभव है? आपका क्या कहना है? और यदि मैंने इस प्रकार के अस्वीकृति की गंध का, उसके रूप का, उसके स्वाद का अनुभव किया है, तो मैं कैसे उसे छात्र को सम्प्रेषित करूँ? छात्र के पास जो ज्ञात है—गणित, भूगोल, इतिहास, आदि—वह भी पर्याप्त मात्रा में उसके पास होना चाहिये और फिर भी उसको जो ज्ञात है उससे पूर्णतः मुक्त होना चाहिये—बिना किसी खेद अथवा पश्चाताप के।

शिक्षक : सभी प्रकार की विषय-संवेदना एक अवशेष छोड़ती है, एक विक्षोभ जो विभिन्न प्रकार के द्वन्द्व तथा दूसरी मानसिक क्रियायें उत्पन्न करता है। सभी धर्मों की परम्परागत दृष्टि यही रही है कि इस संवेदना को अनुशासन तथा अस्वीकृति के द्वारा न माना जाय। परन्तु जो आप कहते हैं उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि इन संवेदनाओं के प्रति एक ऐसी तीव्र ग्राहकता हो जाती है कि आप इन संवेदनाओं को, विना किसी विरूपण अथवा अवशेष के देखते हैं।

कृष्णमूर्ति : यही तो विचारणीय विषय है। संवेदनशीलता और संवेदना दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक मन जो विचार, संवेदना, भावना का दास है—अवशेष वाला, संस्कार वाला—मन है। वह अवशेष का आनन्द लेता है, वह आनन्द-प्रद विश्व के विचार का आनन्द लेता है और प्रत्येक विचार कुछ चिह्न छोड़ जाता है जो अवशेष है। उस आनन्द का जो आपको मिला है प्रत्येक विचार कुछ चिह्न छोड़ता है और वह असंवेदनशीलता उत्पन्न करता है। स्पष्ट है कि वह मन को मन्द वनाता है और फिर अनुशासन, नियन्त्रण और दमन मन को और मन्द बना देते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य है कि संवेदनशीलता संवेदना नहीं है, कि संवेदनशीलता में कोई चिह्न, कोई अवशेष नहीं होता। तो प्रश्न क्या है? . . . .

शिक्षक : क्या वह अस्वीकृति जिसके विषय में आप चर्चा कर रहे हैं उस अस्वीकृति से भिन्न है जो संवेदना को, विषयानन्द को, नियंत्रित करता है ?

कृष्णमूर्ति : आप कैसे उन पुष्पों को, उनके सौन्दर्य को देखते हैं, उनके प्रति पूर्णतया ऐसे संवेदनशील होते हैं कि कोई अवशेष नहीं रहता, उनकी कोई स्मृति नहीं रहती जिससे कि जब आप एक घंटे बाद पुनः उन्हें देखते हैं, तो आप एक नवीन पुष्प को देखते हैं ? यह उस अवस्था में संभव नहीं होता जब आपका यह देखना एक संवेदना के रूप में होता है और जब यह संवेदना पुष्पों के साथ, आनन्द के साथ, संबन्धित है। परम्परागत तरीका यह है कि जो आमोदक है उसे समाप्त कर दो, क्योंकि ऐसे सम्बन्ध दूसरे प्रकार के विषयानन्द को जगाते हैं, और इसलिये आप न देखने के लिये ही अपने को अनुशासित करते हैं। परन्तु सम्बन्ध को छुरी से काट कर पृथक नहीं किया जा सकता। वह अभी अपरिपक्वता होगी। इसलिये कैसे इस अपार सौन्दर्य को हमारा मन और हमारी आँखें देखें और फिरभी उसका कोई अवशेष न रहे ?

मैं कोई पद्धति नहीं पूछ रहा हूँ। प्रश्न यह है कि वह अवस्था आती कैसे है · अन्यथा हम संवेदनशील नहीं हो सकते। वह एक फोटोग्राफ की प्लेट के समान है जो चित्र भी लेती है और जिसमें स्वतः नवीनीकरण भी होता है। एक बार चित्र लेने के बाद फिर नवीन अनुकृति के लिए वह निगेटिव बन जाती है। इस प्रकार प्रत्येक विषयानन्द को वह निरंतर अपने आप धो भी रही है। क्या यह संभव है अथवा हम केवल शब्दों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, न कि तथ्यों के साथ।

मुझे यह तथ्य स्पष्ट दिखाई देता है कि कोई भी अवशिष्ट संवेदनशीलता, संवेदना मन को मन्द करती है। मैं उस तथ्य को अस्वीकार करता हूँ, निषेध करता हूँ, परन्तु मैं यह नहीं जानता कि ऐसा अद्भुत संवेदनशील

होना क्या है जिसम अनुभव कोई चिह्न नहीं छोड़ता और फिर भी पुष्प को उसकी पूर्णता में, अनुभूति की अत्यन्त तीव्रता में, देखा जाता है। मेरी दृष्टि में यह एक निश्चित तथ्य है कि प्रत्येक संवेदना, प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक विचार, एक संस्कार अथवा चिह्न छोड़ता है, मन को रूप प्रदान करता है, और ऐसे चिह्न एक नवीन मन को नहीं उत्पन्न कर सकते। मैं देखता हूँ कि एक ऐसा मन होना जिसमें चिह्न हों, मृत्यु है, इसलिये मैं मृत्यु को अस्वीकार करता हूँ। परन्तु मैं उस "दूसरी अवस्था" को नहीं जानता। मैं यह भी देखता हूँ कि एक अच्छा मन अनुभव के अवशेष से रहित होता है तथा संवेदनशील होता है। वह अनुभव करता है परन्तु वह अनुभव कोई ऐसा चिह्न नही छोड़ता जिससे वह कुछ और आगे अनुभव, और आगे निष्कर्ष, और आगे मृत्यु, प्राप्त करता हो।

एक को मैं अस्वीकार करता हूँ और दूसरे को मैं जानता नहीं। तो ज्ञात की अस्वीकृति से उस अज्ञात की ओर स्थानान्तरण कैसे संभव होता है?

व्यक्ति कैसे अस्वीकार करता है? क्या व्यक्ति ज्ञात को अस्वीकार करता है, किसी बड़ी प्रभावशाली घटना में नहीं वरन् छोटी-छोटी घटनाओं में? जब मैं शेव कर रहा हूँ और याद कर रहा हूँ कि मैंने स्विटजरलैंड में कितना अच्छा समय बिताया था, क्या मैं उसे अस्वीकार कर सकता हूँ? क्या व्यक्ति एक आनन्दप्रद समय की याद को अस्वीकार करता है? क्या व्यक्ति उसके प्रति सचेत होता है, और अस्वीकार करता है? यह प्रभावशाली नहीं है, यह प्रदर्शनीय नहीं है, कोई इसके बारे में नहीं जानता। फिर भी छोटी-छोटी वस्तुओं की यह निरन्तर अस्वीकृति, छोटा-छोटा मिटाना, छोटा-छोटा समाप्त करना, केवल एक बड़ी अस्वीकृति ही नहीं, आवश्यक है। विचार जब स्मृति के रूप में आता है तो, चाहे वह सुखद हो या दुःखद, दिन में प्रत्येक क्षण जैसे-जैसे वह आता है, उसको अस्वीकार करना आव-

श्यक होता है। ऐसा हम किसी प्रयोजन से नहीं करते, इसलिये नहीं कि हमें अज्ञात की किसी अद्भुत अवस्था में प्रवेश करना है। आप ऋषिवैली में रहते हैं और बम्बई अथवा रोम में रहने की कल्पना कीजिये। यह एक द्वन्द्व उत्पन्न करता है, मन को मन्द तथा एक विभाजित वस्तु बनाता है। क्या आप इसे देख सकते हैं और मिटा सकते हैं ? क्या आप यह मिटाना जारी रख सकते हैं ? इसलिये नहीं कि आप अज्ञात में प्रवेश करना चाहते हैं। आप कभी यह नहीं जान सकते कि अज्ञात है क्या, क्योंकि जैसे ही आप उसे अज्ञात के रूप में पहचानते हैं, आप पुनः ज्ञात में आ जाते हैं।

पहचानने की प्रक्रिया ज्ञात के सातत्य की प्रक्रिया है। चूँकि मैं यह नहीं जानता कि अज्ञात क्या है, मैं केवल यही एक कार्य कर सकता हूँ कि मैं विचार को, जैसे-जैसे वह आता है, मिटाता जाऊँ।

आप उस पुष्प को देखते हैं, उसका अनुभव करें, उसके सौन्दर्य को, उसकी तीव्रता, उसके असाधारण रंग को देखें। तब आप उस कमरे में जाँय जिसमें आप रहते हैं, जो सही ढंग का नहीं बना है, जो कुरूप है। आप उस कमरे में रहते हैं परन्तु आपको सौन्दर्य का एक बोध है और आप उस पुष्प के विषय में विचार करने लगते हैं और जैसे-जैसे वह विचार उठता है, आप उसे पकड़ते हैं और फिर उसे मिटा देते हैं। तो आप किस गहराई से मिटाते हैं, वह कौन सी गहराई है जिससे आप उस पुष्प को, अपनी पत्नी को, अपने देवताओं को, अपने आर्थिक जीवन को अस्वीकार करते हैं ? आपको अपनी पत्नी के साथ, बच्चों के साथ, इस भयानक कुरूप समाज में रहना है। आप जीवन से भाग नहीं सकते। परन्तु जब आप विचार को, सुख-दुःख को पूर्णतः अस्वीकार कर देते हैं तो आपका सम्बन्ध भिन्न प्रकार का हो जाता है और इसलिये अस्वीकृति आंशिक नहीं वरन् पूर्ण होनी चाहिये, ऐसी अस्वीकृति नहीं जिसमें आप उन वस्तुओं को तो

रखते हैं जिन्हें आप चाहते हैं तथा उन वस्तुओं को अस्वीकार कर देते हैं जिन्हें आप नहीं चाहते।

तो जो आपने समझा उसे आप छात्रों तक कैसे पहुँचायेंगे?

शिक्षक : आपने कहा है कि शिक्षण में और सीखने में तीव्रता की, गहनता की, अनन्य चित्तता की, स्थिति तब होती है जब आप यह नहीं कहते कि "मैं आपको कुछ शिक्षण दे रहा हूँ।" तो क्या विचार के चिह्नों को इस प्रकार निरंतर मिटाने का इस "शिक्षण एवं शिक्षा-ग्रहण" की स्थति से कोई सम्बन्ध है?

कृष्णमूर्ति : अवश्य है। मैं यह अनुभव करता हूँ कि शिक्षण तथा शिक्षा-ग्रहण दोनों एक ही वस्तु है। इस स्थिति में होता क्या है? मैं आपको शिक्षित नहीं कर रहा हूँ—मैं आपका न तो अध्यापक हूँ, न अधिकारी—मैं केवल खोज कर रहा हूँ और आपको अपनी खोज बता रहा हूँ। आप उसे ले सकते हैं, अथवा उसका त्याग कर सकते हैं। छात्रों के सम्बन्ध में भी स्थिति यही है।

शिक्षक : तो अध्यापकों को क्या करना है?

कृष्णमूर्ति : आप केवल पता लगा सकते हैं कि कब आप निरंतर अस्वीकार कर रहे हैं। क्या आपने कभी ऐसा किया है? यह उसी तरह है मानों दिन में आप एक मिनट भी न सो सकते हों।

शिक्षक : इसके लिए शक्ति की आवश्यकता तो होती ही है, इससे एक बड़ी मात्रा में शक्ति का विमोचन भी होता है।

कृष्णमूर्ति : परन्तु पहले आपके अन्दर अस्वीकार करने की शक्ति होनी चाहिये।

———

परिच्छेद—५

प्रतियोगिता

अपने तथा छात्रों के बीच एक सही संवादशीलता (Communication) को स्थापित करने के विषय में तथा संवाद की उस अवस्था में एक ऐसे भिन्न वातावरण को उत्पन्न करने के विषय में जिसमें छात्र सीखना आरम्भ करते हैं, हम चर्चा करते रहे हैं। मैं नहीं जानता आपने ध्यान दिया है अथवा नहीं कि जिस प्रकार हास्य संक्रामक होता है उसी प्रकार गंभीरता भी होती है। वह कोई ऐसी गंभीरता नहीं है जो एक गंभीर चेहरे से या भारी हृदय से उत्पन्न होती है; वह ऐसी गंभीरता है जो तब आती है जब हम पारस्परिक सम्बन्ध की, संवाद की अवस्था में होते हैं।

मेरे विचार से सीखना तभी होता है जब आपके और छात्र के बीच वही संवाद की अवस्था हो जो मेरे और आपके बीच है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं आपका शिक्षक हूँ। आप जानते हैं कि "संवाद" शब्द का क्या अर्थ है—सम्प्रेषित करना, संपर्क में आना, किसी अनुभूति को संचारित करना, सहभागी होना—न केवल शाब्दिक स्तर पर बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी, अनुभूति का और अधिक गहराई से एवं और अधिक सूक्ष्मता से अनुभव करना। मेरे विचार से "संवाद" शब्द का यही सब अर्थ है और उस अवस्था में सभी स्तरों पर, उस वातावरण में, एक साथ होने के उस बोध

में क्या शिक्षक और छात्र दोनों के लिये ही सीखना संभव नहीं होता ? मेरे विचार से सीखना केवल उसी अवस्था में संभव होता है। सीखना उस अवस्था में नहीं होता जहाँ आप किसी ऊँची चौकी पर बैठकर छात्र के गले सूचनाएँ उतारते हैं। तो क्या हम वह संवाद स्थापित कर सकते हैं, केवल वक्ता से ही नहीं, वरन् वृक्षों से भी, प्रकृति से, विश्व से और यदि हम सवेरे जगते हैं तो ऊषाकाल से भी—एक ऐसा संवाद जिसमें हम सीखते हैं ?

आज सवेरे क्या हम किसी ऐसे विषय पर चर्चा करेंगे जिसके विषय में केवल शिक्षण-वृत्ति में लगे शिक्षक को ही नहीं वरन् सभी मनुष्यों को विचार करना चाहिये, क्योंकि जिस पर हम चर्चा करने जा रहे हैं उसका जीवन में बड़ा महत्व है ? भारत में ही नहीं वरन् समस्त विश्व में सारी सभ्यता को प्रतियोगिता, सफलता, उपलब्धि के अनुकूल बनाया गया है। महत्वाकांक्षी मनुष्य सम्मानित प्रतीत होता है—वह महत्वाकांक्षी आक्रामक मनुष्य सफलता प्राप्त करना चाहता है और छल फरेब से किसी प्रकार चोटी पर पहुँचना चाहता है। प्रतियोगिता जो सतत है, विद्यालय की किसी कक्षा में ही केवल नहीं है वरन् दैनिक जीवन में भी है। उस लिपिक के दृष्टिकोण में भी है जो समझता है कि उसे मैनेजर होना चाहिए, उस मैनेजर में भी है जो निदेशक होना चाहता है और निदेशक में भी है जो अध्यक्ष होना चाहता है, आदि। आधुनिक सभ्यता में जीवन का यही स्वीकृत रूप है। आप सभी जगह देखते हैं कि मनुष्य सफलता के पीछे है और यही मनुष्य सम्मानित है—कम से कम राजनीतिक दृष्टि से—और यही दृष्टिकोण विद्यालय में भी स्थित है। आप छात्र को बताते हैं कि वह उतना अच्छा, उतना बुद्धिमान नहीं है जितने दूसरे छात्र। आप बालक को डाँटते हैं, उसे कोंचते हैं, उसे प्रोत्साहित करते हैं प्रतियोगी होने के लिये, सफल होने के लिये, तथा एक निश्चित बौद्धिक स्तर पर पहुँचने के लिये। आप पदों के उपासक हैं।

अतः आप में जन्मजात एक ऐसी अभिवृत्ति है जो मूलतः प्रतियोगी तथा आक्रमक है। केवल आर्थिक और सामाजिक जीवन में ही ऐसा नहीं है बल्कि धार्मिक जीवन में भी यही है। ऊँचे चढ़ने का, प्रतियोगी बनने का, मनुष्यों के बीच सभी स्तरों पर तुलना करने का यह एक सतत संघर्ष है। तो, आप उत्कृष्ट और निकृष्ट की इस पृष्ठ-भूमि पर संदेह करते हैं अथवा आप उसे अनिवार्य मानकर उसे बनाये रखते हैं ? और क्या इससे वास्तविक सीखना होगा ? क्या यह जीवन के लिये स्वाभाविक है ? स्वाभाविक उस शब्द के आद्य अर्थ में नहीं, परन्तु क्या यह एक सभ्य जीवन है ? क्या आप अपने बालक का इसी प्रकार विकास करेंगे ? आपके विचार से क्या जीवन का यही सही ढंग है ? मैं जानता हूँ कि यही एक स्वीकृत ढंग है, परन्तु क्या यह सही मार्ग है ? सर्वप्रथम, यह प्रतियोगिता, यह तुलना, मन को कैसे प्रभावित करती है ? क्या आपके विचार में हम प्रतियोगिता से सीखते हैं ? हम इसकी परीक्षा करें। सभी मनुष्यों में सभी स्तरों पर, जीवन की सभी दशाओं में तुलना करना, लक्ष्य प्राप्त करना, उपलब्ध करना आदि, आप जानते हैं, जीवन का एक स्थापित ढाँचा है। मानव अस्तित्व की यही समस्त संरचना है।

जब आप दीवाल पर दो तस्वीरें देखते हैं तो आपकी दृष्टि यह होती है कि यदि चित्रकार का नाम सुपरिचित है तो जो कुछ वह चित्रित करता है बढ़िया है। परन्तु उस व्यक्ति का बनाया हुआ चित्र, जिसका नाम परिचित नहीं है, घटिया है। यही सदा होता है। क्या यह ठीक है ? क्या यह दृष्टि अवबोध उत्पन्न करेगी ? क्या यह सीखने में हमारी सहायता करेगी ? इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे अन्दर सूक्ष्म-विवेचन की क्षमता नहीं होनी चाहिये; परन्तु क्या तुलना, समझने में, सीखने में, मन की सहायता करेगी ? क्या तुलना मन की वह अवस्था है जिसमें हम सीखते हैं ?

यदि आप में तथा छात्र दोनों में प्रतियोगिता की, तुलना की अभिवृत्ति है तो आप छात्र की सहायता के लिये कैसे बढ़ेंगे ?

अच्छा हो कि इस समस्या को अत्यंत सरल बनायें। यह प्रतियोगिता मन को कैसे प्रभावित करती है ? उस मन का क्या होता है जो सदा तुलना कर रहा है, सफलता प्राप्त कर रहा है, सफलता की उपासना कर रहा है ?

शिक्षक : वह अपने को थका रहा है।

कृष्णमूर्ति : आप अब भी परिणामों को, उपलब्धियों को देख रहे हैं। आप स्वयं मन को नहीं देख रहे हैं। आप स्वयं मन के स्वरूप को नहीं देख रहे हैं जो यह सब कर रहा है, उस मन को जो गतिशील है, जो प्रतियोगिता की अवस्था में है। कृपया स्वयं उस मन को देखें जो यह सब कर रहा है।

शिक्षक : जब मन सफलता को उपलब्धि द्वारा नाप रहा है तो जब उपलब्धि नहीं होती तो निराशा होती है।

कृष्णमूर्ति : आप अब भी परिणाम को देख रहे हैं। मैं मन को समझना चाहता हूं। संभवतः समानताएँ थकाने वाली होती हैं। ओक वृक्ष के बीज से कभी भी चीड़ का वृक्ष नहीं हो सकता। आप कहते हैं, "मैं नहीं जानता कि मैं कौन सा बीज हूं परन्तु मैं एक चीड़ अथवा अखरोट अथवा ओक बनना चाहता हूं।" हम बीज को अथवा स्वयं मन की अवस्था को नहीं जानते बल्कि हम केवल इसकी चिंता करते हैं कि इसको क्या होना चाहिये।

तो उस वस्तु का अनुभव करने की हम चेष्टा करें, न कि उसको शब्दीकृत करें। हम सफलता के लिये प्रतियोगिता करते हैं; हम उसकी उपासना करते हैं, क्योंकि हम ऐसा अनुभव करते हैं कि यदि हम प्रतियोगिता में नहीं पड़ते तो बेकार हो जायेंगे। यह केवल एक काल्पनिक अनुक्रिया है, यह एक वास्तविक तथ्य नहीं है। आप नहीं जानते कि क्या होगा। जब आप देखते हैं कि आप क्या हैं, वह चाहे जो भी हो, तब आप सीखना आरम्भ करते हैं। सभी परिस्थितियों में पानी तो पानी ही है,

चाहे वह नदी में हो अथवा एक गिलास में। इस समय हमारे पास वह आधार ही नहीं है जिससे हम सीखें। जो हम कर रहे हैं वह केवल संकलन मात्र है। यह संकलन की अथवा जोड़ने की प्रक्रिया ही है जिसे हम सीखना कहते हैं। परन्तु यह सीखना नहीं है।

केवल वही मन जो उस अवस्था में है जिसमें वह तुलना नहीं कर रहा है, जब उसने तुलना करने की व्यर्थता को समझ लिया है, वही मन एक ऐसा आधार स्थापित कर सकता है जहाँ से वह शब्द के सही अर्थ में सीखना आरम्भ करे।

यदि कोई ऐसी आधार-स्थिति है जिसमें इधर-उधर भटकना नहीं है, तृष्णा नहीं है, तो वह एक ठोस आधार है और उसपर आप निर्माण कर सकते हैं। उसपर जो भवन है वह सीखने की संरचना है और उस सीखने से क्रिया होती है, उससे अनुरूपता कभी नहीं होती, और इसलिये, भय का, निराशा का वोध कभी नहीं होता।

क्या आप इस प्रकार से सीखने में छात्र की सहायता कर सकते हैं? छात्र सीखे इसके लिये यह आवश्यक है कि आप संकलन की प्रक्रिया में तथा सीखने की प्रक्रिया में भली-भाँति अंतर करें तभी आप एक वास्तविक मनुष्य का, न कि यन्त्र का, सर्जन कर रहे हैं। यदि आप इसको नहीं देखते तो आप छात्र की सहायता कैसे करने जा रहे हैं? क्या एक ही झटके में आप समस्त प्रतियोगिता को मिटा सकते हैं? जिसका तो अर्थ यह होगा कि एक ही झटके में आप किसी समाज की तथा-कथित संरचना को मिटा सकते हैं।

आप अध्यापक हैं; एक नवीन पीढ़ी आपके हाथों में आ रही है। क्या आप चाहते हैं कि वह उसी प्रकार बनी रहे? यदि आप यह अनुभव करते हैं कि यह समाज जिसमें हम बड़े हुये हैं एक सड़ी हुई वस्तु है तो कैसे आप मन के उस नवीन गुण को उत्पन्न करने में छात्र की सहायता

करेंगे जिसमें प्रतियोगिता की भयानकता का कोई हाथ नहीं है ? यह देखने के लिये कि समाज बालक को डुबो न दे, निगल न जाय, तो दिन-प्रति-दिन आप कौन से कदम उठायेगें ? उसकी सहायता करने के लिये क्रमशः आप क्या करेगें ?

शिक्षक : बालक को विलासिता के साथ विकसित नहीं किया जाना चाहिये ।

कृष्णमूर्ति : विलासिता में क्या दोष है ? वह स्वच्छ कपड़े पहन सकता है, कुर्सी पर बैठ सकता है, अच्छा भोजन कर सकता है। मेरे लिये यह विलासिता है, आपके लिये नहीं है । इससे विलासिता से क्या सम्बन्ध ? आप एक नियम को, "विलासिता" के आदर्श को स्थापित कर रहें हैं।

इस विषय में बालकों से सप्ताह में एक बार नहीं वरन् हर समय चर्चा करें, क्योंकि उनको प्रतियोगिता के लिये प्रतिबद्ध किया जा रहा है। प्रतियोगिता के कुचक्र में बालक न फँसे इसमें आप उसकी कैसे सहायता करेगें ?

शिक्षक : उसे यह दिखा करके कि उसे भयभीत नहीं होना चाहिये और कि एक व्यक्ति के रूप में वह अनुपम है तथा उसे अपना योगदान करना है।

कृष्णमूर्ति : यदि कोई व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह अनुपम है, इतना अनुपम कि उसके समान दूसरा कोई नहीं है, तो क्या वास्तव में वह अनुपम है ? वह अपने माता-पिता के तमाम पूर्व ग्रहों के साथ आया है। उस बेचारे बालक में वह अनुपमता कहाँ है ? उसकी समस्त प्रतिबद्धता को आपको उसके ऊपर से उतार फेंकना है और क्या आप ऐसा कर सकते हैं ? क्या अध्यापक के रूप में ऐसा करना आपका कार्य नहीं है ? यह आपका उत्तरदायित्व है। आपको उसे देखना है, आपको उसकी सत्यता

को देखना है; और आपको स्वयं भी इसका अनुभव करना है जिससे कि आप उसका सम्प्रेषण कर सकें। परन्तु यह हो सकता है कि बालक उसे इतना आवश्यक न समझे। आप बालक से ऐसा संवाद कैसे करेंगे कि वह सीखे ? बिना प्रतियोगिता की भावना के वह सीखे, इसमें आप उसकी कैसे सहायता करेंगे, उसे कैसे शिक्षित करेंगे ?

शिक्षक : यदि वह अनुभूति मेरे अंदर नहीं है तो मैं उसका अनुभव बालक के लिये भी नहीं कर सकता, और जब वह मेरे अन्दर नहीं है तो मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैंने बालक को पहले ही नष्ट कर दिया।

कृष्णमूर्ति : मैं आपको बताऊँगा। प्रत्येक दृष्टान्त का अपना ही एक पाठ होता है। आप उसका अनुभव नहीं करते क्योंकि आप स्वयं प्रतियोगिता में पड़े हैं। क्या आप धन के लिये, पद के लिये, सम्मान के लिये प्रतियोगिता नहीं कर रहे हैं ? जब तक आप इस विषय में तीव्रता से अनुभव नहीं करते, आप क्या करेंगे ? जब तक आप इसे पूर्णतया समझ न लें तब तक के लिये आप प्रतीक्षा तो नहीं कर सकते। इसलिये आप क्या करेंगे ? यह ठीक है कि इस विषय में आप बालक को अंक न प्रदान करें, परन्तु यह देखने के लिये कि वह कैसे व्यवहार करता है, कैसे सीख रहा है तथा उसके ज्ञान का स्तर आदि जानने के लिये आप अपने पास एक अभिलेख रखें, परन्तु बालक पर अंकुश न लगायें और प्रतियोगिता के लिये उसकी सहायता न करें।

तो जिसकी हमने चर्चा की है उसे फिर से एक बार देखें। जब प्रतियोगी भावना समाप्त हो जाती है, सीखना वास्तव में तभी होता है। प्रतियोगिता की भावना केवल एक संकलन की प्रक्रिया है, जिसमें सीखना तो होता ही नहीं। हम चाहते हैं कि बालक सीखे, न कि यन्त्र की भाँति अपने में ज्ञान को संकलित करता जाय। बालक आधार-भूत रूप में, मौलिक रूप से सीखे इसमें उसकी सहायता करने के लिये यह आवश्यक

है कि बालक प्रतियोगिता, जिसमें उसके सभी निहितार्थ सम्मिलित हैं, न करें। ऐसा करने का एक ढंग यह है कि तुलना न करने में जो सत्यता है, उसे हम समझें। तो आप कैसे बालक की सहायता करेंगे कि वह प्रतियोगी न हो ?

शिक्षक : जब मैं गणित पढ़ाता हूँ तो विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने के तरीकों पर विचार करता हूँ कि उसे इस प्रकार रख सकूँ कि वह रुचिकर हो। जब एक इस प्रकार की वस्तु को प्रस्तुत करना होता है तो जहाँ तक सम्बन्ध का प्रश्न है उसमें अनेक बातें कार्य-रत रहती हैं और उन्हें हम कैसे सम्प्रेषित करते हैं ? यह एक बड़ी व्यापक वस्तु है अतः इसे हम केवल अंशों में ही कह सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : आप उस बिन्दु पर नहीं मिल रहे हैं। जब मैं कहता हूँ, आप क्या करेंगे ? तो मेरा तात्पर्य केवल क्रिया की भाषा से नहीं है वरन् अनुभूति की भाषा से भी है। अनुभूति और क्रिया—ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। मैं बड़ी स्पष्टता से देखता हूँ कि केवल कक्षा में ही नहीं वरन् समस्त जीवन में प्रतियोगिता विनाशकारी है। और यहाँ एक छोटा सा बालक है और मैं इसको समझने में उसकी सहायता करना चाहता हूँ। तो मुझे कैसे बढ़ना है ? मैं उससे बात कर सकता हूँ और कह सकता हूँ, "देखो जीवन में क्या हो रहा है—दुःख है, द्वन्द्व है"। उससे इस प्रकार बात करें कि उसमें निंदा न हो, आप प्रतिक्रिया न उत्पन्न करें। आप तस्वीर को देखिये। उसे बड़ी स्पष्टता से देखिये, मानों कि आप नकशे में लन्दन अथवा बम्बई को देखते हों। बहुत स्पष्टता से देखने में छात्र की सहायता कीजिये। यह पहला काम है। इस अनुभूति की गुरुता उसे बताइये। वह आप से सहमत हो इसके लिये प्रयत्न मत कीजिये, उसे प्रभावित मत कीजिये। निंदा की भाषा में, सहमति की भाषा में, दबाव की भाषा में, उससे बात मत कीजिये। उसे तथ्य दिखाइये। तथ्य को

स्थापित कीजिये। तभी आपका समझना पूर्णतया वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक होता है, अन्यथा वह काल्पनिक, भावनात्मक अथवा संवेगात्मक हो जाता है। तभी आपने अपने और उसके बीच सही सम्बन्ध को स्थापित किया है। आप तथ्य का सामना कर रहे हैं। और आपने अपने बीच तथ्य के, प्रतियोगिता के भ्रष्ट तथ्य के पारस्परिक बोध को स्थापित किया है। तब वह और आप बैठते हैं और कहते हैं, "हम व्यवहार में वास्तव में, क्या करने जा रहे हैं?"

संवाद की अनुभूति को व्यवहार में लाना इस अनुभूति की तीव्रता पर ही पूर्णतया निर्भर करता है। अब आपने इस अनुभूति को, इस सत्य को, इस तथ्य को स्थापित कर लिया कि प्रतियोगिता घातक है, परन्तु इस तथ्य को आपने बालक तक सम्प्रेषित नहीं किया है। यही पहला काम है जो आपको करना है।

———

परिच्छेद—६

भय

कृष्णमूर्ति : छात्र के अंदर से भय को समाप्त करने की समस्या का सामना एक शिक्षक के रूप में आप कैसे करेंगे? क्या इस विषय को आप उसी प्रकार आरम्भ करेंगे जैसे आप गणित का शिक्षण आरम्भ करते हैं? सर्वप्रथम, आपको स्वयं भय को समझना चाहिये, तभी आप दूसरे की उसमें सहायता कर सकेंगे। आपको भय के निहितार्थ को समझना चाहिये, कि कैसे भय होता है। जैसे आप हिन्दी भाषा को अथवा किसी दूसरी वस्तु को जानते हैं, उसी प्रकार आपको भय के विषय में भी कुछ जानना चाहिये। मान्यताएँ, धार्मिक-आदर्श, वर्ग-भेद, सफलता का विचार, हीनता तथा श्रेष्ठता के भाव अथवा धनी एवं निर्धन की भावना स्थापित करके समाज भय उत्पन्न करने के लिये सब-कुछ कर रहा है। इसी प्रकार भ्रष्ट एवं विकृत मूल्यों को उत्पन्न करने के लिये समाज जो कुछ संभव हो सकता है, सब कुछ कर रहा है।

प्रश्न केवल यही नहीं है कि अध्यापक भय के स्वरूप को गहराई से समझें बल्कि प्रश्न यह भी है कि भय सम्प्रेषित न हो तथा छात्र भी इस योग्य हो कि वह भय उत्पन्न होने के कारणों को पहचान सके। एक अध्यापक के रूप में क्या आपके लिये यह एक समस्या नहीं है? हमारे

जीवन में केवल प्राप्त करने के लिये ही नहीं वरन् देने के लिये भी प्रेम बहुत कम है—कोई रहस्यवादी अर्थ वाला प्रेम नहीं वरन् प्रेम, करुणा, दया, उदारता की वास्तविक अनुभूति, अर्थात एक ऐसी क्रिया जो एक केन्द्र से, अहं से उत्पन्न नहीं होती । और चूँकि आपके पास प्रेम का अभाव है तो आप छात्र के प्रति क्या करेंगे, उसके अंदर भी यह ज्वाला प्रज्वलित हो इसके लिये आप उसकी कैसे सहायता करेंगे ?

क्या धर्म का आपके लिये कोई अर्थ है ? कर्म-काण्ड का नहीं वरन् धार्मिक अनुभूति का, धार्मिक कल्याण का, किसी वस्तु की पवित्रता का ? धर्म, भय, प्रेम—क्या ये सब बहुत अंतर्सम्बन्धित नहीं हैं ? आप एक के बिना दूसरे को नहीं समझ सकते । सभी जगह भय है और प्रेम का इतना अधिक अभाव है—मेरा तात्पर्य उसकी तीव्रता से, उसके आवेग से है—और तब कल्याण की भी अनुभूति है—कल्याण अथवा परोपकार जो किसी वस्तु का केवल बदला नहीं होता, जो कि किसी धार्मिक क्रिया का पुरस्कार नहीं होता, जिसका किन्हीं धार्मिक संगठनों से कोई संबन्ध नहीं होता ।

क्या आप सायंकाल टहलते हैं और क्या खेतों के आर-पार जाते हुये ग्रामीणों की ओर आपका ध्यान गया है ? वह सब कितना सुन्दर लगता है ! और वह ग्रामीण पृथ्वी के, पहाड़ियों के, जल के सौन्दर्य के प्रति पूर्णतया अचेत होता है । उस ग्रामीण के लिये अपने अस्वास्थ्यकर घर को लौटने के सिवाय वहाँ कुछ नहीं है । वहाँ भय है । तो जब आप एक निर्धन ग्रामीण को जाते हुये देखते हैं तो वहाँ सहानुभूति की भावना की तथा प्रेम की एक बहुत बड़ी समस्या उठती है । क्या आपके अन्दर इस व्यापक निर्धनता के विषय में एक तीव्र आन्दोलन की, एक निराशा की अनुभूति नहीं होती ? तो व्यक्ति क्या कर सकता है ? उदारता, दयालुता, विनम्रता आदि का आपके अन्दर अनुभव करने की क्षमता तो है । परन्तु उसका

आपके लिये क्या अर्थ है ? आप अपने अंदर तथा दूसरों के अंदर उसे कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? क्या ऐसा भी कोई तरीका है जिसके द्वारा आप भय को, प्रेम को एवं धार्मिक अनुभूति को पृथक्-पृथक् किसी आलोचनात्मक अवबोध से न देखें वरन् एक ऐसे अवबोध से देखें जो समग्र है ?

तो इस समस्या का सामना मैं कैसे करूँ ? क्या मैं एक-एक करके इन समस्याओं को लूँ, पहले भय को लूँ, उसे समझूँ और तब प्रेम का अध्ययन करूँ ? मैं कैसे समग्र वस्तु को पकड़ूँ ? यदि आपको किसी स्वर की अनुभूति है तो आपको संगीत की अनुभूति होती है और यदि स्वरों के बीच में होने वाले मौन की आपको अनुभूति है तो आपको गायन के लय का आनन्द मिलता है। गायन केवल शब्द नहीं है, केवल स्वर-मात्र नहीं है बल्कि वह स्वर का, मौन का और स्वर के सातत्य का एक विशिष्ट संयोग है। तो किसी संगीत के बोध के लिये अवश्य ही उस समस्त वस्तु का बोध होना चाहिये। और इसी प्रकार से, क्या भय एक पृथक् समस्या है, क्या प्रेम एक पृथक् समस्या है, क्या धार्मिक भावना एक पृथक् समस्या है, कि उन्हें अलग-अलग अपने में समझा जाय अथवा कोई ऐसी दृष्टि भी है जो उन्हें एक समग्र वस्तु के रूप में समझें ?

क्या आपने कभी वर्षा की एक बूँद का अवलोकन किया है ? वर्षा की एक बूँद में समस्त वर्षा, समस्त सरिता, समस्त सागर निहित है। वही बूँद सरिता बनती है, घाटी बनाती है, कटाव करके विशाल दर्रे बनाती है, घड़घड़ाते हुये जल-प्रपात बनाती हैं। इसी प्रकार से क्या मेरा मन भय, प्रेम, धर्म, ईश्वर, को एक पृथक् अन्तर्निरीक्षण, एक विश्लेषणात्मक परीक्षण, एक विच्छेदन, के रूप में न देख कर एक गति के रूप में देख सकता है ?

शिक्षक : भय और प्रेम में क्या संबन्ध है ?

कृष्णमूर्ति : यदि मैं भयभीत हूँ तो मैं किसी के प्रति सहानुभूति कैसे रख सकता हूँ? एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति क्या जाने कि पृथ्वी का सौन्दर्य तथा मनुष्यों में भाई-चारा क्या होता है । एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति प्रेम को नहीं जानता। क्या कोई व्यक्ति, जो मृत्यु से भयभीत है, जो इससे भयभीत है कि उसके पड़ोसी, उसकी पत्नी क्या कहेगी, जो सुरक्षा एवं पद से भयभीत है., वह किसी से सहानुभूति रख सकता है? इनमें से एक दूसरे का अवरोधक है।

शिक्षक : हम केवल आंशिक रूप में ही कार्य करते हैं, हम अंश के द्वारा ही सम्पूर्ण को समझने का प्रयत्न करते हैं।

कृष्णमूर्ति : भय किससे परिवर्तित होगा ?

शिक्षक : अववोध से।

कृष्णमूर्ति : परिवर्तन किससे आता है और कौन परिवर्तन करता है? मैं अपने मन का निरीक्षण करता हूँ जो कहता है, "मैं भयभीत हूँ" और मैं जो मेरा मन करने का प्रयत्न कर रहा है उसे समझना चाहता हूँ। प्रयत्न क्या है और प्रयत्न करने वाला कौन है? तो जब तक व्यक्ति इसमें बड़ी गहराई से न जाय, केवल यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि "मुझे भय से मुक्त होना चाहिये।"

भय हैं, प्रेम है और विशालता की यह अनुभूति है। मैं भय का क्रमशः विश्लेषण कर सकता हूँ। मैं इसका पता लगा सकता हूँ कि भय के क्या कारण हैं, उसके परिणाम क्या हैं; मैं इसका पता लगा सकता हूँ कि मैं क्यों भयभीत हूँ और प्रयत्न करने वाला कौन है और क्या प्रयत्न करने वाला उस वस्तु से भिन्न है जो प्रयत्न कर रही है। और मैं इसका अन्वेषण कर सकता हूँ कि क्या कोई मन है जो प्रयत्न का, प्रयत्न करने वाले का, उस वस्तु का जिसपर प्रयत्न किया जा रहा है—केवल वाह्य वस्तु के रूप में नहीं वरन् अभ्यंतर में भी—निरीक्षण कर सकता है। इस सबके

अंत में भी भय रहता है। धर्म, रूढ़ि-सिद्धान्त, विश्वास एवं अंध-विश्वास के इस प्रश्न का मैं विश्लेषण कर सकता हूँ, परन्तु इस विश्लेषण के अंत में भी मैं वही का वही हूँ। मैंने विश्लेषण की टेकनीक को सीख भी लिया है और उस सबके अंत में मेरा मन इतना तीव्र भी हो गया कि वह भय की प्रत्येक गति का अनुसरण कर सकता है। परन्तु भय फिर भी है।

तो मन का वह कौन सा स्वरूप है जो समग्रता का साक्षात् करता है, उसे एक बार में ही आत्मसात कर लेता है और जो महत्वहीन है उसे त्याग देता है?

यह आवश्यक है कि एक ऐसी दृष्टि हो जो व्यक्ति को एक सम्पूर्ण अवबोध, एक ऐसी समग्र अनुभूति प्रदान करे जिससे व्यक्ति प्रत्येक समस्या का सामना कर सके। क्या मैं किसी वस्तु का अर्थात् प्रेम का, भय का, धर्म का, विशालता की उस अनुपम अनुभूति का, सौंदर्य का, सम्पूर्ण अर्थ समझ सकता हूँ और तब प्रत्येक समस्या को एक-एक करके देखूँ? आपने वृक्षों को देखा है। क्या आप सम्पूर्ण वृक्ष को देखते हैं अथवा आप केवल शाखाओं को, पत्तों को और पुष्पों को देखते हैं? क्या आप उस सम्पूर्ण वृक्ष को अभ्यंतर में देखते हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि वृक्ष जड़ है, शाखा है, पुष्प है, फल है, रस है एवं समग्र पेड़ है। क्या आप समस्त वृक्ष के सौन्दर्य का, उसके महत्व का अनुभव करके तब उसकी शाखा को देख सकते हैं? ऐसे निरीक्षण का बड़ा महत्व होगा।

अबकी बार जब आप किसी वृक्ष को देखें, आप उसके आकार को, उसके सामंजस्य को, उस समस्त वस्तु की गहराई, उसके सौंदर्य, उसके गुण को देखें। मैं समग्रता की अनुभूति की चर्चा कर रहा हूँ। उसी प्रकार से आपका एक शरीर है: आपकी भावनाएँ हैं, संवेग हैं, मन है, उसकी स्मृतियाँ हैं—सचेत एवं अचेत परम्पराएँ, शताब्दियों की एकत्रित छाप हैं, वंश का नाम है—क्या आप इनकी समग्रता का अनुभव कर सकते हैं? यदि आप

उनकी समग्रता का अनुभव नहीं करते और केवल अपने संवेगों का विच्छेदन करते हैं, तो यह अपरिपक्वता है। क्या आप अपने अन्दर इस समग्र वस्तु का अनुभव कर सकते हैं और इस समग्र व्यक्तित्व की अनुभूति के साथ भय पर आक्रमण कर सकते हैं ?

भय एक विशाल समस्या है। क्या इस विशालता का सामना आप किसी विशालता से कर सकते हैं ?

शिक्षक : यह हमेशा संभव नहीं होता, हम प्रायः अपनी तात्कालिक समस्याओं में खो जाते हैं।

कृष्णमूर्ति : परन्तु यदि एक बार आपको इस विशालता की अनुभूति हो जाय, तो जीवन का एक दूसरा ही रंग हो जाता है, उसकी विशेषता ही भिन्न हो जाती है।

शिक्षक : आप केवल कभी-कभी इस विशालता के प्रति सचेत होते हैं।

कृष्णमूर्ति : मैं नहीं सोचता कि आपने इसके विषय में कभी सोचा है, क्या कभी सोचा है ?

शिक्षक : हाँ, मैंने सोचा है एक बार कभी अपने को तत्काल की समस्या से पृथक् करते हुए तथा उसका निरीक्षण करके।

कृष्णमूर्ति : मेरा वह तात्पर्य नहीं है। मेरा तात्पर्य इससे है कि क्या आपने सदा के लिए उस अनुभूति को प्राप्त किया है, केवल आज, कल, कभी-कभी के लिए नहीं वरन् सदा के लिये। मनुष्य, विश्व, सृष्टि की भाषा में सोचना एक अद्भुत अनुभूति है। और उस अनुभूति के साथ क्या हम अपनी विशिष्ट समस्याओं को देख सकते हैं ? अन्यथा हम एक बौद्धिक अथवा संवेगात्मक संकट में पड़ने जा रहे हैं।

इसमें क्या कठिनाई है ? कठिनाई क्या यह है कि मन अक्षम है, सीमित है; अथवा आप जो तात्कालिक हैं उसमें व्यस्त हैं; आपको संतान, पति,

पत्नी के लिये तात्कालिक चिन्ता है जो आपका सारा समय ले लेती है और आपको उसके विषय में सोचने का अवसर नहीं मिलता ? "तत्काल" शब्द को लें। तत्काल तो कुछ नहीं है; वह एक अंतहीन वस्तु है। आप उसे एक तत्काल समस्या में बदलते हैं; वह समस्या हजारों बीते हुये कल और हजारों आने वाले कल का परिणाम है। तात्कालिकता है ही नहीं। भय है, प्रेम है, और मनुष्य की विशालता के लिये चाह है। क्या आप इस अनुभूति के स्वरूप को कुछ अंश में पकड़ सकते हैं और यह कह सकते हैं "मुझे भय का अवलोकन करने दें ?"

भय का क्या महत्व है, और आप छात्र की सहायता करना कैसे आरम्भ करेंगे ? आपको छात्र को समस्त जीवन के लिये तैयार करना है और जीवन तो एक अद्‌भुत रूप से विशाल वस्तु है। और जब आप "जीवन" शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें सभी सागर, सभी पर्वत और वृक्ष और सभी मानवीय महत्वाकांक्षाएँ, मानवीय कष्ट, निराशायें, संघर्ष तथा इन सब की विशालता निहित है। क्या जीवन की इस विशालता को समझने में आप छात्र की सहायता कर सकते हैं ? क्या इस अनुभूति को प्राप्त करने में आपको छात्र की सहायता नहीं करनी चाहिये ?

क्या आप में से कोई ध्यान करता है ? केवल शांत बैठना नहीं, केवल मन के तरीकों का निरीक्षण-मात्र करना नहीं; वरन् क्या आप कभी चेतन और अचेतन को आमंत्रित करते हैं और उसे एक गहरी शान्ति में ले जाते हैं और देखते हैं कि उसके आगे, और आगे, क्या होता है ? यदि आप इसे नहीं करते तो क्या जीवन में आप बहुत—कुछ खो नहीं रहे हैं ?

ध्यान आत्म-अनुस्मरणात्मक अवधान का एक रूप है, वह एक खोज है—परम्परा से, विचारों से, निष्कर्षों से पृथक् हो जाने का एक रूप, वह पूर्णतया अकेले हो जाने का बोध है, जो कि मृत्यु है। समग्रता की इस अनुभूति से क्या आप जो तात्कालिक है उसका सामना कर सकते हैं ?

हम कुछ और व्यावहारिक बनें। भय से वास्तव में मुक्त होने में हम छात्र की सहायता करना कैसे आरम्भ करते हैं ?

शिक्षक : मैं देखूँगा कि छात्र के साथ मेरा संबंध मित्रतापूर्ण है। यदि मेरा उसके साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं है तो भय की चर्चा करना मूर्खतापूर्ण होगा। मैं व्यावहारिक और बौद्धिक दोनों ही प्रकार की ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करूँगा जहाँ वह समझे कि भय का वास्तविक अर्थ क्या है, बौद्धिक रूप से भय के कारणों एवं परिणामों की व्याख्या करूँगा क्योंकि मन को तीव्र करना आवश्यक है। फिर मैं देखूँगा कि मैं उसे दृष्टि तथा अनुभूति की इस समग्रता को अनुभव करा सकूँ।

कृष्णमूर्ति : तत्थ्यात्मक बनें। कक्षा में आप कैसे पढ़ायेंगे ? आप छात्र की कैसे सहायता करेंगे कि वह समझे ? बालक में तथा समग्र अनुभूति के बीच एक खाँई है, आप उसे कैसे पाटेंगे ?

शिक्षक : उसके अन्दर एक सूक्ष्म जिज्ञासा को जाग्रत् करना सम्भव होना चाहिये। दूसरी वस्तु जो मैं उसके साथ करना चाहूँगा कि वह काम की, खेल-खेलने की, गणित की, अथवा अन्य विषयों की विशेषता को समझे। मैं पता लगाऊँगा कि उसकी अभिरुचियाँ क्या है, वह कैसे प्रतिक्रिया करता है, और यदि मैं इसके आगे प्रगति कर सका तो मैं देखूँगा कि मेरे और छात्र के बीच कुछ और भी संभव है अथवा नहीं।

कृष्णमूर्ति : आपने वह सभी किया जो स्पष्टतया आवश्यक है। आप उससे बात करेंगे। आप उसे दिखायेंगे कि भय कैसे उत्पन्न होता है आदि। तो फिर आगे क्या ? तथ्यात्मक रूप से भय से मुक्त होने में आप छात्र की कैसे सहायता करेंगे ? मैं सोचता हूँ यही वास्तविक विषय है। जब कोई अवसर मिलता है तो क्या आप एक ध्यानात्मक, आत्म-अनुस्मरणात्मक चिंतन की अवस्था में होंगे जो छात्र को स्पष्ट रूप से यह देखने में सहायता कर सके कि भय क्या है ? आप देखते हैं कि यह एक आवश्यक

वस्तु है, परन्तु आप उस वस्तु की उपेक्षा कर देते हैं। आप वास्तव में क्या करेंगे ? आप तथ्यात्मक रूप से क्या करेंगे ?

शिक्षक : ध्यान इस परिस्थिति का सामना करने में हमारे मन की सहायता करेगा।

कृष्णमूर्ति : मुझे इस सबकी एक अनुभूति हो सकती है। अब मैं इसे क्रिया में कैसे लाऊँगा ? उन एक दर्जन बालकों के साथ मुझे क्या करना है ?

शिक्षक : अनुभूति स्वयं अपना परिवर्तन कर लेगी। बालकों के साथ जो प्रेम का सम्बन्ध है वह सहायता करेगा।

कृष्णमूर्ति : पहले स्नेह होना चाहिये, तब भय से मुक्त करने के लिए छात्र की सहायता करने में प्रत्येक अवसर का उपयोग करना चाहिये; उसके लिए भय के कारणों को स्पष्ट करना चाहिये; उसे यह दिखाने के लिए कि वह कैसे भयभीत होता है प्रत्येक घटना का उपयोग करना चाहिये। कक्षा में इतिहास, गणित, आदि के अध्यापन में ही उसके विषय में चर्चा करनी चाहिये। परन्तु उसके आगे क्या ? आगे बढ़ें।

शिक्षक : इस सबको करने में मुझे इसके प्रति भी सावधान रहना होता है कि जो कुछ भी मैं छात्र के प्रति कर रहा हूँ कहीं वह साथ-ही-साथ समाप्त तो नहीं हो रहा है।

कृष्णमूर्ति : आपने जो कुछ कहा, आपके स्नेह का, आपकी व्याख्याओं का छात्र के ऊपर समग्र प्रभाव क्या पड़ा ? क्या यह उसे अंतर्मुखी नहीं बनाता, और फिर यह अंतर्मुखी बनना क्या करता है ?

शिक्षक : वह कुछ तात्कालिक समस्याओं का सामना करने में उसकी सहायता करता है।

कृष्णमूर्ति : स्वयं अपने को समझने में आपने छात्र की सहायता की है। आपने भय के प्रति सचेत होने में छात्र की सहायता की है और

अन्तर्मुखी होने में भी आपने छात्र की सहायता की है, अंतर्मुखी इस अर्थ में कि वह भय के प्रति और अधिक सचेत अनुभूति रखता है। इसका आपको किसी दूसरी वस्तु से संतुलन करना होगा।

शिक्षक : क्या आपका तात्पर्य है कि आन्तरिक निरीक्षण की यह प्रक्रिया बालक में कुछ जटिल समस्याएँ उत्पन्न करेगी ?

कृष्णमूर्ति : उससे निस्संदेह एक प्रकार की आत्म-सचेत अनुभूति उत्पन्न होगी।"जो मैं कर रहा हूँ वह सही है अथवा गलत है ?" "मैं कितना निर्भय हूँ" इसे सोचकर या तो घबड़ाहट होगी या आत्म-गौरव होगा या दिखावा होगा । इसका आप कैसे संतुलन करेंगे ? इस पर विचार करें; अपने मन को इसमें सावधानी से लगाएँ। इस अवस्था में मैं सोचता हूँ कि समस्या को पुनः एक दूसरे प्रकार की दृष्टि की आवश्यकता है । अन्यथा अपने केन्द्रीभूत ध्यान के द्वारा आप बालक को आत्म-सचेत, आत्म-आक्रामक, दम्भी होने में तथा सत्ताधिकारी दृष्टि प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होंगे।

शिक्षक : बालक को एक अवसर मिलना चाहिये कि वह उन दूसरी वस्तुओं के प्रति भी संवेदनशील हो जो अभ्यन्तर में नहीं हैं।

कृष्णमूर्ति : मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप अनजाने ही अहंवाद के एवं आत्म गौरव के बोध को, अधिकार जताने के, आक्रामकता के तथा उद्दंडता के बोध को उत्पन्न करेंगे।

अभी तक आपने मन की गति पर विचार किया है। जब ज्वार-भाटा चढ़ाव पर होता है तो पानी अंदर आता है और फिर वह बाहर भी जाता है। यदि पानी अंदर की ओर ही रुका रहे तो वह उसी प्रकार से होता है जैसे किसी खाड़ी में रुका हुआ वापसी पानी, परन्तु यदि ज्वार की गति अंदर की ओर होती है, तो उसमें बाहर की ओर गति होती ही है। आपने केवल अभ्यंतर की ओर की गति की ही चर्चा की है। आप बाहर की ओर गतिशील होने में छात्र की कैसे सहायता करेंगे ?

शिक्षक : जब आपने बाहर की ओर गति की चर्चा की थी तो मैंने ऐसा अनुभव किया था कि मैं समग्र की दृष्टि से नहीं, वरन् एक आंशिक गति के विकास की दृष्टि से देख रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति : यदि मैं आपको निरंतर आगे न ले चलता और इस प्रकार आपको यह अनुभव न कराता कि वह आंशिक उत्तर है तो आप आगे न बढ़े होते। आप केवल अभ्यंतर की ओर की गति की ही चर्चा करते हैं, परन्तु ज्वार में जो गति है वह अंदर और बाहर दोनों ओर ही होती है। आपने उस गति का केवल एक ही दिशा में अध्ययन किया और आप यह नहीं जानते कि आंतरिक और बाह्य दोनों को एक ही गति के रूप में कैसे समझा जाये ?

शिक्षक : क्या यह सम्भव नहीं है कि आरम्भ से ही हम अंदर और बाहर दोनों ओर गतिशील हों ?

कृष्णमूर्ति : वह बाह्य गति क्या है जो संतुलन देने जा रही है ?

शिक्षक : केवल संतुलन ही नहीं वरन् विनम्रता का बोध भी जो कभी-कभी आता है।

कृष्णमूर्ति : वहाँ पहाड़ियाँ है, वृक्ष हैं, सरिता है, बालू है। यह बाह्य गति है। प्रत्यक्षीकरण, अवलोकन यह बाह्य गति है। प्रकृति ने आपको नदियाँ, वृक्ष, शुष्कभूमि, आदि सभी का सौन्दर्य दिया है। इसलिये बाह्य और आंतरिक दोनों ही ओर गति आवश्यक है—एक चिरंतन गति।

परिच्छेद—७

शिक्षण और सीखना

शिक्षक : हम ऐसा अनुभव करते हैं कि जब तक हमारा मन विचार से शून्य नहीं हो जाता है तब तक हम किसी तथ्य को नहीं देख सकते। परन्तु यदि एक क्षण के लिए भी मन विचार से शून्य हो तो विचार पुनः उठता प्रतीत होता है। हम विचार का कैसे अंत कर सकते हैं? क्या हम इस पर चर्चा कर सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : विचारणा की क्या भूमिका है, इसके महत्व को हम समझते हैं, इसमें मुझे संदेह है। क्या विचार महत्वपूर्ण है, और वह किस स्तर पर महत्वपूर्ण है? विचारणा क्या है? हम क्यों विचार करते है? विचार कहाँ महत्वपूर्ण है और कहाँ नहीं है, और इस प्रश्न का आप कैसे उत्तर देंगे? और जब कोई प्रश्न किया जाता है तो वह कौन सी मशीन है जो चालू हो जाती है?

क्य विचारणा अभ्यस्त प्रारूप के प्रति मात्र अभ्यस्त अनुक्रिया है? आप यहाँ इस विद्यालय में किसी एक निश्चित लीक में रहते हैं और आपके विचारों के, आपकी आदतों के, आपकी भावनाओं के कुछ निश्चित प्रारूप होते हैं। आप उन आदतों, प्रारूपों और व्यवस्था—प्रणालियों में कार्य

करते हैं, रहते हैं और मस्तिष्क का, विचार का, कार्य वड़ा सीमित रहता है। जब आप इस घाटी के वाहर जाते हैं तो आप का क्षेत्र कुछ व्यापक हो जाता है। पर वहाँ भी आपके काम की कुछ लीकें होती हैं और आप उनका अनुगमन करते हैं। यह सब वास्तव में एक वड़ी यांत्रिक प्रक्रिया है यद्यपि यांत्रिक क्रिया के उस प्रारूप में भी कुछ परिवंतन होते हे। आप उसमें सुधार करते हैं, उसमें वदलाहट लाते हैं, परन्तु आप कहीं पर हों, आप का कोई भी पद हो—मंत्री, राज्याल, डाक्टर अथवा प्रोफेसर—प्रारूप में विभिन्न परिवंतनों और सुधारों के साथ भी वहाँ सदा एक लीक ही होती है। आप प्रारूपों में ही कार्य करते हैं। मैं यह नहीं कहता कि वह गलत है या सही है; मैं केवल उसका अन्वेषण कर रहा हूँ। आपके अपने विश्वास हैं परन्तु वे सब पृष्ठभूमि में हैं और आप अपनी दैनिक क्रियाओं में, अपनी ईर्ष्या, द्वेष, लालच में लगे रहते हैं। जब कभी आपके विश्वासों पर संदेह किया जाता है, आप उत्तेजित हो जाते हैं, परन्तु आप लगे उसी में रहते हैं। आदतों की उन लीकों को वनाने के लिये तथा अपने शेष जीवन में उन्हीं आदतों में कार्य करने के लिए वालकों को शिक्षित किया जाता है। वे नौकरी पाने जा रहे हैं। वे इन्जीनियर, डाक्टर वनने जा रहे हैं और उनके शेष जीवन का ढाँचा निश्चित हो जायेगा। उसमें यदि कोई परिवर्तन होता है तो वह विक्षोभ उत्पन्न करता है। विवाह, उत्तरदायित्व, संतान से वह विक्षोभ कम हो जाता है; और इस प्रकार धीरे-धीरे एक साँचा वन जाता है। और सारी विचारणा इसी के बीच में होती है कि क्या सुविधाजनक है, क्या सुविधाजनक नहीं है; क्या लाभदायक है, क्या मूल्यवान् है—वह सब सदा उसी क्षेत्र में होता है।

शिक्षक : यह सव विचारणा नहीं है, यह एक आवृत्ति है।

कृष्णमूर्ति : परन्तु यही है वह प्रकार जिसमें हम रहते हैं, यही हमारा जीवन हैं। यही सव है जो हम चाहते हैं। प्रत्येक वस्तु पुनरावृत्ति है और मन अधिकाधिक मन्द और मूर्ख होता जाता है। क्या यह एक तथ्य नहीं है?

हम विक्षोभ नही चाहते, हम अपने ढाँचे को, प्रारूप को, छिन्न-भिन्न नहीं करना चाहते।

तो हमारा प्रारूप छिन्न-भिन्न कैसे होता है, अपने प्रारूप को तोड़कर हम उससे बाहर कैसे निकलते हैं? और क्या यह सम्भव है कि हम किसी लीक में न पड़ें? परन्तु प्रारूपों को रचने का अंत मैं क्यों करूँ? उनको समाप्त करने के विषय में मैं तभी सोचता हूँ जब कोई प्रारूप मुझे संतुष्ट नहीं कर पाता, जब वह प्रारूप मेरे लिये अब उपयोगी नहीं रह जाता, अथवा जब उस प्रारूप में कुछ घटनाएँ जैसे मृत्यु, पति का पत्नी को छोड़ देना अथवा नौकरी छूट जाना होती हैं। किसी विशेष प्रारूप के टूटने में एक विक्षोभ होता है जिसे दुःख कहा जाता है और तब मैं उस प्रारूप से दूसरे प्रारूप में चला जाता हूँ। मैं एक प्रारूप से दूसरे प्रारूप में जाता हूँ। एक ढाँचे से जिसमें परिस्थितियों ने, परिवेश, परिवार, शिक्षा ने मुझे रखा है, दूसरे में जाता रहता हूँ। विक्षोभ मुझे थोड़ा सा प्रश्न करने के लिये प्रेरित करते हैं परन्तु तुरन्त ही मैं दूसरी लीक में चल देता हूँ और उसी में स्थिर हो जाता हूँ। यही है जो अधिकांश लोग, उनके माता-पिता, समाज, चाहते हैं। तो फिर विचार का अंत करने की यह बात कहाँ से आती है?

शिक्षक : ऐसा भी समय होता है जब व्यक्ति समस्त प्रारूप और उसमें निहित प्रत्येक वस्तु से असंतुष्ट होता है।

कृष्णमूर्ति : इस प्रारूप की व्यर्थता को देखने के लिये हम कैसे प्रेरित होते हैं? मैं इसे कब देखता हूँ और कौन मुझे देखने के लिये प्रेरित करता है? किसी प्रारूप की रचना के पीछे कोई प्रयोजन होता है और यदि किसी प्रयोजन से मैं उस प्रारूप को तोड़ता हूँ तो वह प्रयोजन ही दूसरे प्रारूप को गढ़ लेता है।

तो परिवर्तन मेरे अंदर कौन कराता है ? विना प्रयोजन के कोई कार्य मुझसे कौन कराता है ?

शिक्षक : प्रयोजन से मुक्त होना बड़ा कठिन है।

कृष्णमूर्ति : आप से मुक्त होने के लिये कहता ही कौन है ? यदि वह मुश्किल है तो आप प्रारूप को तोड़ने के लिये परेशान ही क्यों हैं ? आप एक प्रयोजन से संतुष्ट हों और उसमें वने रहें। यदि वह कठिन है तो आप परेशान क्यों हैं ?

शिक्षक : वह मुझे कहीं नहीं ले जाता।

कृष्णमूर्ति : परन्तु यदि वह कहीं ले जाता तो क्या आप उसका अनुसरण करते ?

शिक्षक : जिसका अर्थ यही हुआ कि पुनः एक प्रयोजन है।

कृष्णमूर्ति : तो आप क्यों प्रयोजन को छोड़ना चाहते हैं और उससे वाहर निकलना चाहते हैं ? आपका प्रयोजन से क्या तात्पर्य है ? आप यहाँ पढ़ाते हैं क्योंकि आपको कुछ द्रव्य मिलता है, यह प्रयोजन है। आप किसी को पसन्द करते हैं क्योंकि वह आपको एक पद दे सकता है अथवा आप ईश्वर से प्रेम करते हैं क्योंकि आप जीवन से घृणा करते हैं। आपका जीवन कष्टमय है और ईश्वर से प्रेम उससे पलायन का एक तरीका है। यह सब प्रयोजन है। तो वह क्या है जो एक मन को, एक मनुष्य को, विना प्रयोजन के रहने के लिये प्रेरित करता है ? यदि इसका आप अनुगमन करें और उसमें जांय तो मुझे विश्वास है कि आप अपने प्रश्न का उत्तर पायेंगे ।

शिक्षक : ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रश्न, "क्या मैं अपने प्रयोजनों को जानता हूँ ?" इस प्रश्न के पहले आता है कि "क्या मैं निष्प्रयोजन कुछ करता हूँ ?

कृष्णमूर्ति : क्या हम अपने प्रयोजनों को जानते हैं ? मैं क्यों पढ़ाता हूँ ? मैं क्यों किसी पति अथवा पत्नी से संलग्न रहता हूँ ? क्या मैं अपने प्रयोजनों को जानता हूँ, और मैं पता कैसे लगाता हूँ ? और यदि मैं पता लगाता भी हूँ तो प्रयोजनों के होने में गलत क्या है ? मैं किसी से प्रेम करता हूँ क्योंकि मैं उसके साथ एक साथी के रूप में, शारीरिक रूप से, यौन संबन्ध से रहना चाहता हूँ; तो उसमें गलत क्या है ?

शिक्षक : मैं शिक्षण करता हूँ क्योंकि मुझे धन चाहिये, तो प्रयोजन वाधक नहीं होता। मुझे धन चाहिये और इसलिये मुझे कोई व्यवसाय करना चाहिये और मैं अध्यापन करने लगता हूँ।

कृष्णमूर्ति : सर्वप्रथम हम क्या अपने प्रयोजनों को जानते हैं, केवल सचेत प्रयोजनों को ही नहीं, वरन् अचेत एवं छिपे हुये प्रयोजनों को भी ? क्या अपने जीवन में विना प्रयोजन के हम कुछ भी करते हैं ? विना प्रयोजन के कुछ करना तभी होता है जब व्यक्ति को जो वह कर रहा है उससे प्रेम हो और उस प्रक्रिया में विचारणा यन्त्रवत् नहीं होती; तब मस्तिष्क निरंतर सीखने की प्रक्रिया में है, वह हठवादी नहीं है; वह केवल ज्ञान से ज्ञान की ओर नहीं चलता। वह ऐसा मन है जो तथ्य से तथ्य की ओर चलता है। इसलिये ऐसा मन इति करने की तथा एक ऐसी वस्तु पर पहुँचने की क्षमता रखता है जिसे वह जानता नहीं, जो ज्ञान से मुक्ति है।

आपने आरम्भ में पूछा था, "हम कैसे विचार का अंत करते हैं ?" मैंने कहा, "किसलिये ?" हम यह भी नहीं जानते कि विचारणा क्या है, हम नहीं जानते कि कैसे विचार किया जाता है। हम प्रारूपों की भाषा में सोचते हैं। इसलिये जब तक हमने उस सबका अन्वेषण नहीं कर लिया अथवा समझ नहीं लिया, तब तक हम संभवतः यह प्रश्न नहीं पूछ सकते, "हम कैसे विचार का अंत करते हैं ?"

शिक्षक : हम विचारणा का अन्वेषण कैसे करें और हम कैसे विचार करें ?

कृष्णमूर्ति : हम कैसे विचार करें केवल यही नहीं वरन् विचारणा क्या है इसका भी अन्वेषण करें। क्या एक मनुष्य के रूप में, एक व्यक्ति के रूप में, मैं यह पता लगा सकता हूँ कि विचारणा की मेरी क्या पद्धति है ? क्या वह यंत्रवत् है, क्या वह मुक्त है ? क्या मैं उसे उस रूप में जान सकता हूँ जिस रूप में वह मेरे अंदर कार्य कर रही है ?

विचार के अंत के लिये मुझे सबसे पहले विचारणा की प्रक्रिया में जाना होगा। मुझे विचार को अपने अंदर गहराई में पूर्णता से समझना होगा। मुझे प्रत्येक विचार की परीक्षा करनी होगी और किसी भी विचार को बिना पूरी तरह समझे; जाने नहीं देना होगा, ताकि मस्तिष्क, मन, सारा व्यक्तित्व, बड़ा सतर्क हो जाय। जिस क्षण विचार का मैं उसके मूल तक, उसके अंत तक पूर्ण रूप से अनुसरण करता हूँ तो मैं देखता हूँ कि विचार अपने से समाप्त हो जाता है। मुझे उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता क्योंकि विचार स्मृति है। स्मृति अनुभव का चिह्न है और जब तक अनुभव को पूर्णतया, अच्छी तरह, समग्रता से समझ नहीं लिया जाता, वह एक चिह्न या संस्कार छोड़ता है। जैसे ही मुझे अनुभव पूर्णतया हो जाता है, वह अनुभव कोई चिह्न नहीं छोड़ता। इसलिये यदि हम प्रत्येक विचार में जायें और देखें कि वह चिह्न कहाँ है और तथ्यात्मक रूप में उस चिह्न या संस्कार के साथ रहें तो वह तथ्य उद्घाटित हो जायेगा और वह तथ्य विचारणा की उस विशेष प्रक्रिया का अंत कर देगा जिससे कि प्रत्येक विचार, प्रत्येक अनुभूति समझ में आ जाती है। इस प्रकार स्मृतियों के समूह से मन और मस्तिष्क को मुक्त किया जाता है। इसके लिये अत्यधिक अवधान की आवश्यकता है, केवल पक्षियों और वृक्षों के प्रति अवधान की ही नहीं वरन् आन्तरिक अवधान की जो देखता है कि प्रत्येक विचार समझ लिया गया है।

शिक्षक : यह एक बड़ा कुचक्र सा प्रतीत होता है। मन विचारणा के किसी प्रारूप से पीछा छुड़ाने में लगा है और विचारणा की प्रक्रिया को समझने के लिये उसे एक ऐसी संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है जो मन के पास नहीं है।

कृष्णमूर्ति : एक विचार को, किसी भी प्रकार के विचार को लें। उसमें जायें। देखें कि आपके पास वह विचार क्यों है, उसमें क्या अन्तर्निहित है उसे समझें, उसे छोड़ें नहीं जब तक कि आपने उसकी समस्त जड़ों को उखाड़ नहीं लिया है।

शिक्षक : ऐसा करना तभी संभव है जब कि वह साधन जो उसे कर रहा है, संवेदनशील हो।

कृष्णमूर्ति : जब आप किसी एक विशेष विचार का अन्वेषण करते हैं आप उस साधन को भी समझना आरम्भ कर देते हैं जो उस विचार की परीक्षा कर रहा है। तब जो महत्वपूर्ण है वह विचार नहीं है; तब महत्वपूर्ण वह निरीक्षक है जो उस विचार की परीक्षा कर रहा है। और वह निरीक्षक ही यह विचार है जो कहता है, "मैं वह विचार नहीं पसन्द करता, मैं यह विचार पसन्द करता हूँ।" इस प्रकार आप विचार के मूल पर ही आक्रमण करते हैं न कि केवल उसके लक्षणों पर। और चूंकि आप एक अध्यापक हैं, कैसे आप एक छात्र में इस अवधानपूर्ण निरीक्षण को, इस परीक्षा को जिसमें निर्णय नहीं है, उत्पन्न करेंगे।

मैं पूछना चाहता हूँ कि आप कैसे पढ़ाते हैं? वह परिवेश, वह अवस्था, वह वातावरण क्या है जिसमें सिखाना और सीखना संभव होता है? मान लीजिये आप इतिहास पढ़ाते हैं और छात्र सीखता है। तो जिस कक्ष में पढ़ाना और सीखना हो रहा है उसका वातावरण, उसका परिवेश, उसका गुण क्या है?

शिक्षक : जब शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ध्यान दे रहे हैं तो वहाँ एक विशेष वातावरण बनता है।

कृष्णमूर्ति : मैं "ध्यान" शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहता। यदि आप कोई वस्तु शिक्षक से सीखते हैं तो उस संवाद का, प्राप्त करने का एवं उसे सीखने का स्वरूप क्या है? एक पुष्प को, एक पौधे को बढ़ने के लिये वर्षा की आवश्यकता होती है, क्या आप समझते हैं?

शिक्षक : क्या हम इसे निषेधात्मक रूप से देख सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : जिस तरह आप चाहें, देखें। मान लीजिये मैं आपसे विज्ञान पढ़ाने को कहूँ। उस कक्षा का वातावरण क्या है जहाँ आप विज्ञान पढ़ाते हैं—जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी सीख रहे हैं, सिखा रहे हैं? कौन सा गुण वहाँ आवश्यक है, वहाँ का वातावरण क्या है, वहाँ की क्या सुगन्ध है, कैसी सुवास है?

शिक्षक : एक मौन और शान्त परिवेश?

कृष्णमूर्ति : आप आदर्शवादी हैं और मैं नहीं हूँ। मेरे अंदर एक भी आदर्श नहीं है, मैं केवल एक तथ्य जानना चाहता हूँ। आप तथ्य से दूर हट रहे हैं, यही मेरी आपत्ति है। जब आप पढ़ाते हैं और वे सीखते हैं, किसी कक्षा में, तो वातावरण क्या है? वह वातावरण एक तथ्य है।

शिक्षक : शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच मित्रता।

कृष्णमूर्ति : आप तथ्य का सामना नहीं कर रहे हैं। आप अध्यापन करते हैं और आप जानते भी हैं और जब छात्र को सीखना होता है तो वहाँ अवश्य ही एक निश्चित गुण होना चाहिये और मैं पूछ रहा हूँ कि वह गुण क्या है? क्या आपने वास्तव में उस गुण का अनुभव किया है जहाँ संवाद पारस्परिक होता है, जहाँ सीखना ही सिखाना है?

शिक्षक : आरम्भ में मेरा विचार था कि जब मैं पढ़ाता हूँ तो मैं छात्रों को कुछ तथ्य ही प्रदान करता हूँ, परन्तु अब मैं समझता हूँ कि जब मैं पढ़ाता हूँ तब वहाँ एक सीखना भी होता है। यह कभी ही कभी अनोखे क्षणों में ही होता है, तभी जब कि वहाँ एक खोज होती है, जब शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों एक साथ खोज कर रहे होते हैं।

कृष्णमूर्ति : वह अवस्था क्या है जहाँ वह खोज एक साथ मिलकर होती है? वहाँ वातावरण क्या है? सम्बन्ध क्या है? वह शब्द क्या है जिसका आप उस अवस्था को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयोग करेंगे जिसमें संवाद संभव है?

शिक्षक : उत्सुकता।

कृष्णमूर्ति : आप क्या पढ़ाते हैं?

शिक्षक : हिन्दी।

कृष्णमूर्ति : बालक जानने के लिये उत्सुक हैं और आप पढ़ाने के के लिये उत्सुक हैं। तो अब इससे क्या वातावरण बनता है? क्या होता है?

शिक्षक : बच्चे मुझे सुनते हैं।

कृष्णमूर्ति : आप कहते हैं कि बच्चे आपको सुनते हैं। आप उन्हें कुछ बताना चाहते हैं। इसमें क्या होता है? मैं चाहता हूँ कि आप इसकी परीक्षा करते।

शिक्षक : वहाँ एक सतर्कता की अवस्था होती है।

कृष्णमूर्ति : मैं इसमें कुछ और अधिक गहरा जाना चाहता हूँ। जिस क्षण आप कहते हैं कि वह सतर्कता है, आपने उसे एक ढाँचे में बैठा दिया। मैं आपको और अपने को उसकी परिभाषा करने से रोकने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

शिक्षक : जब प्रयोजन वहाँ है—सीखने और सिखाने का प्रयोजन—तो दोनों ही कार्य हो रहे हैं; इससे एक प्रवाह, एक गति वहाँ आती है; और अस्थायी रूप से यह अवस्था उन दूसरी अवस्थाओं से, जिन्हें मैं जानता हूँ, कुछ भिन्न है।

कृष्णमूर्ति : जब शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में ही सीखने और सिखाने की प्रेरणा होती है तो वहाँ अवधान होता है। आपको कक्षा में एक अनुभूति, एक वातावरण पैदा करना पड़ता है : अभी तुरंत हमने एक वातावरण पैदा किया है, क्योंकि मैं पता लगाना चाहता हूँ और आप भी पता लगाना चाहते हैं। क्या इस वातावरण को बनाये रखना संभव है, क्योंकि केवल इसी वातावरण में शिक्षण और सीखना संभव होता है ?

हमने इस प्रश्न से शुरू किया था कि छात्र की विचारणा में, उसके प्रयोजन में, अन्वेषण का यह बोध उसको कैसे सम्प्रेषित किया जाय। मैंने आपसे पूछा था, आप कैसे पढ़ाते हैं अर्थात् आप कोई विचार कैसे सम्प्रेषित करते हैं ? और मैंने पूछा था, जब आप वास्तव में पढ़ाते हैं तो होता क्या है ? जब आप पढ़ा रहे होते हैं तब वातावरण क्या होता है ? वह एक शिथिल वातावरण है अथवा तनावपूर्ण है ? तो यदि आपने अपनी विचारणा, विचारणा की प्रक्रिया, की परीक्षा नहीं की है तो छात्र को अन्वेषण का बोध सम्प्रेषित करना असंभव है। परन्तु यदि आपने अपने अंदर यह कर लिया है तो आप उस वातावरण को अवश्य पैदा कर लेंगे। और मैं यह अनुभव करता हूँ कि वह वातावरण, वह अवधान, सिखाने और सीखने के लिये एक अनिवार्य गुण है।

शिक्षक : आपने कहा कि तथ्य की परिभाषा उस तथ्य के अनुभव से बिलकुल भिन्न होती है। तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ किसी वस्तु की परिभाषा में तथा उसके वास्तविक व्यवहार में एक खाई है। आपने यह भी पूछा था : क्या आपने कुछ कार्य को स्वयं उसके अपने लिये किया है,

इसलिये कि आप उससे प्रेम करते हैं ? बिना अपने प्रयोजनों और उनके सब निहितार्थों की परीक्षा किये कैसे कोई किसी वस्तु के सार-तत्व पर पहुँच सकता है ?

कृष्णमूर्ति : ठीक यही है जिस पर पहुँचने का मैं प्रयत्न कर रहा था। किसी वस्तु को उसकी समग्रता में देखना काल का अंत करना है अथवा उसको समझना है। यदि शिक्षण में और सीखने में किसी स्तर पर भी प्रयोजन है तो क्या कोई व्यक्ति समझ सकता है ? जीवन सीखने की और शिक्षण की सतत प्रक्रिया है : यदि वहाँ प्रयोजन है तो न तो सीखना संभव होता है और न तो शिक्षण करना, जब हमारे पास कोई प्रयोजन होता है तो सीखने और सिखाने की अवस्था संभव नहीं होती। अब इसे सावधानी से देखिये : शिक्षण करने के और सीखने के अपने स्वरूप में ही विनय निहित है। आप शिक्षक भी हैं और शिक्षार्थी भी हैं। इस प्रकार न तो कोई शिक्षार्थी है और न शिक्षक, न तो गुरु और न तो शिष्य; केवल सीखना और सिखाना है जो मेरे अंदर हो रहा है। मैं सीख रहा हूँ और मैं अपने को सिखा भी रहा हूँ; सारी प्रक्रिया एक है। यह महत्वपूर्ण है। इससे गहराई का एक बोध, एक शक्ति मिलती है और यदि मेरा कोई प्रयोजन है तो उसमें बाधा पड़ती है। चूँकि सीखना-सिखाना महत्वपूर्ण है इसलिये दूसरी वस्तुएँ गौण हो जाती हैं और इसीलिये प्रयोजन समाप्त हो जाता है। जो महत्वपूर्ण है वह महत्वहीन को हटा देता है। इसलिये प्रयोजन समाप्त हो जाता है : और मुझे दिन-प्रति दिन अपने प्रयोजनों की परीक्षा नहीं करनी पड़ती।

शिक्षक : यह मुझे बहुत स्पष्ट नहीं हुआ।

कृष्णमूर्ति : सर्व प्रथम, जीवन सीखने की एक प्रक्रिया है। "मैंने सीख लिया है" कह कर मैं विश्राम से बैठ जाऊँ, यह जीवन नहीं है। जीवन सीखने की एक प्रक्रिया है और यदि मेरे पास एक प्रयोजन है, मैं सीख

नहीं सकता। यदि यह स्पष्ट है कि जीवन सीखनें कीं एक प्रक्रिया हैं तों प्रयोजन का कोई स्थान ही नहीं होता। प्रयोजन का तभी स्थान होता है जब आप किसी वस्तु पर पहुँचने के लियें सीखने का उपयोग कर रहें हैं। इसलिये जो अनिवार्य तथ्य है वह उन सामान्य बातों को जो अनावश्यक हैं और जिनमें प्रयोजन निहित है समाप्त कर देता है।

शिक्षक : क्या जो आवश्यक है उसकीं एक तथ्य के रूप में चिंता होनी चाहिये ?

कृष्णमूर्ति : परन्तु तथ्य ही आवश्यक होता है। जीवन ही है जो आवश्यक है। जीवन "जो है" वही है। अन्यथा वह जीवन नहीं है। यदि प्रयोजन नहीं है तो "जो है" है। यदि आप दुःख के तथ्य कों समझते हैं, तों "दूसरा" अस्तित्व मे आ जाता है। आप उस "दूसरे" पर बिना प्रयोजन को समझे, बिना अनावश्यक को समझे, नहीं पहुँच सकते।

शिक्षक : अतः जो आवश्यक है उसके लिये चिंता नहीं हो सकती।

कृष्णमूर्ति : तथ्य को, जो कि महत्वपूर्ण हैं, उसे समझें; और उसमें प्रवेश करें। यदि आप महत्वाकांक्षी हैं, तों पूर्णतया महत्वाकांक्षी बनें। दोहरी विचारणा ठीक नहीं है। या तो महत्वाकांक्षी हों अथवा महत्वाकांक्षा के तथ्य को समझें। दोनों ही तथ्य हैं और जब आप एक तथ्य की परीक्षा करें तो उसमें पूर्णतया प्रवेश करें। यदि आप उस तथ्य में पूर्णतया प्रवेश करते हैं तो वह तथ्य ही प्रगट कर देगा कि महत्वाकांक्षा में क्या निहित है। महत्वाकांक्षा का तथ्य अपने को उद्घाटित करना आरम्भ कर देगा और तब वहाँ महत्वाकांक्षा नहीं रहती।

अधिकांश धार्मिक व्यक्तियों ने तथ्यों के विषय में सिद्धान्तों का आविष्कार किया है। परन्तु वे "तथ्य" को नहीं समझते। किसी सिद्धान्त की स्थापना करके वे आशा करते हैं कि वह सिद्धान्त उनको वास्तविक तथ्य

से बचा देगा; परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिये किसी आवश्यक तथ्य को स्थापित करने का प्रयत्न न करें। देखें कि कितनी आसानी से आप गलत कार्य को करने के लिये फिसल जाते हैं। केवल तथ्य ही होता है, कोई आवश्यक तथ्य नहीं होता—क्या आपने इस अन्तर को देखा? और एक तथ्य किसी दूसरे तथ्य के अनुरूप नहीं होता हैं। जैसे ही वह अनुरूप होने लगता है वह तथ्य नहीं रहता। यदि आप किसी तथ्य को किसी संदर्भ के साथ देखते हैं, इस दृष्टि से देखते हैं कि आप उस तथ्य से क्या निकाल सकते हैं तो आप उस तथ्य को कभी नहीं देखेंगे। केवल घटिया या बढ़िया तथ्य नहीं होता। केवल तथ्य होता है। वह एक निष्ठुर वस्तु है। यदि मैं एक वकील हूँ, तो मैं एक वकील हूँ। मैं उसके लिये बहाने नहीं खोज सकता। उस तथ्य को देखने से, उसमें प्रवेश करने से, प्रयोजनों को समझने से तथ्य और उसकी जटिलताएँ प्रगट होती हैं और तब आप उससे बाहर हो जाते हैं। परन्तु यदि आप कहते हैं, "मुझे सदा सत्य बोलना चाहिये," यह एक आदर्श है। वह एक भ्रामक पूर्वमान्यता है। इसलिये जिसको आप महत्वहीन तथ्य समझते हैं उससे उस तथ्य की ओर मत बढ़िये जिसको आप अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। केवल तथ्य ही होता है, न कम न अधिक। वह वास्तव में आपको कुछ ऐसा करता है कि आप जीवन को उस तरह देखने लगते हैं। आप समस्त भ्रम को, मन और और मस्तिष्क की शक्ति के समस्त विघटन को एक झटके में समाप्त कर देते हैं। तब मन बिना किसी भ्रम के, बिना घृणा के, बिना पाखंड के सुनिश्चितता से कार्य करता है। तब मन अत्यन्त स्पष्ट, तेज हो जाता है। यही जीने का तरीका है।

———

परिच्छेद—८

अच्छा मन

कृष्णमूर्ति : विश्व में जो हो रहा है इसका, मेरे विचार में, हममें से अधिकांश व्यक्तियों को भली-भाँति ज्ञान है। जो ऐतिहासिक प्रक्रिया हो रही है, शान्ति का जो भयावह उपहास किया जा रहा है, उसे देख कर अपने में यह प्रश्न अवश्य उठता होगा कि यह सब किस प्रकार का जीवन है। मनुष्यों के वड़े-वड़े समुदायों को गुलाम बनाया जाता है; चारों ओर भ्रष्टता है, परन्तु चर्चा लोकतंत्र की है; धर्म असफल हो गये हैं, रह गया है केवल अंधविश्वास। परम्परा का, अगणित गुरुओं का, भविष्यवक्ताओं का, भिक्षुओं का, ज्योतिषियों का एक भारी बोझ हमारे ऊपर है। गरीबी है, पतन है, अस्तित्व की दयनीयता है; और फिर एक गहरी निराशा का बोध है। तो, इस व्यापक दु:खभोग को देखकर आपके पास इस सब के लिए क्या उत्तर है? ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कहते हैं कि इस सबके लिये किसी नवीन व्यवस्था-प्रणाली की अथवा नवीन दर्शन की आवश्यकता नहीं है, एक नये प्रकार के नेतृत्व की, एक नये प्रकार के मनुष्य की आवश्यकता है, जिसके पास देश का राजनीतिक सत्ताधिकार तो हो ही साथ ही स्वयं अपनी आदर्शवादी शक्ति में भी व्यापक अधिकार हो। परन्तु क्या हम वास्तव में नये नेता चाहते हैं? हमें नेताओं की नहीं नेताओं से मुक्ति की आवश्यकता है।

जव हम इस व्यापक भ्रान्ति को, आर्थिक घुटन को, तथा असंतुलन को देखते हैं और ऋषिवैली में आते हैं तो प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का एक स्कूल क्या कर सकता है और उसे क्या करना चाहिए। क्या हम इस पर चर्चा कर सकते हैं? एक आदर्श के रूप में नहीं, क्योंकि आदर्श चाहे जिस प्रकार के हों वड़े हानिकारक होते हैं। आदर्श हमें तथ्यों को देखने से रोकते हैं, और यह केवल तथ्यों की चिंता है, तथ्यों का समझना ही है, जो एक ऐसी शक्ति का विमोचन करता है जो सही दिशा में चलना है। आदर्श केवल विभिन्न प्रकार के पलायन उत्पन्न करते हैं। हम इस सव पर विचार करें और देखें कि यहाँ इस स्कूल में हम क्या कर सकते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम एक व्यापक से छोटी सी वस्तु की ओर आ रहे हैं क्योंकि यह स्कूल एक छोटे रूप में वहीं है जो समस्त विश्व में हो रहा है। और इस विनाशकारी दुर्व्यवस्था, कष्ट, दु:ख-भोग को देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि उत्तर केवल एक ही है और वह है एक नवीन मन का सर्जन। आवश्यकता इसी वात की है कि एक भिन्न प्रकार का मन हो जो सभी समस्याओं को देखे और एक समाधान खोजे, न कि नवीन समस्यायें उत्पन्न करे। मेरे विचार से सही प्रकार की शिक्षा एक अच्छे मन को, व्यक्ति के समग्र विकास को, संभव वनाती है, और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इस घाटी में ही नहीं वरन् शेष सारे विश्व में भी मुख्य विचारणीय विषय यही है।

कैसे एक व्यक्ति एक अच्छा मन उत्पन्न कर सकता है, एक ऐसा मन जो उन सव सह-संवन्धों को देखता है, केवल एक सतही स्तर पर ही नहीं वरन् जो अभ्यंतर में प्रवेश कर सकता है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा की समस्या यह देखना है कि क्या एक ऐसी वुद्धि का संवर्द्धन संभव है जो प्रभावों का परिणाम नहीं है—एक ऐसी वुद्धि जो किन्हीं टेकनिकों को सीखना और जीविकोपार्जन करना मात्र नहीं है। यद्यपि ये सव भी शिक्षा

के भाग हैं परन्तु वास्तव में शिक्षा के केवल वे ही कार्य नहीं हैं। तो आप बालक को किस प्रकार शिक्षित करेंगे कि वह समाज में स्थापित प्रारूपों के, कुछ निश्चित व्यवहार-प्रणाली के ही अनुरूप बनना न सीखे वरन् जीवन का सामना कर सके, जिससे कि अस्तित्व की सारी समस्या में वह और आगे तथा और गहराई में जा सके ?

मैं नहीं जानता कि आपने कभी इसपर विचार किया है कि एक अच्छा मन क्या है। क्या वह मन अच्छा है जिसमें जो वह पढ़ता है उसको धारण करने की क्षमता है, और जो स्मृति से कार्य करता है। एक इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क इस कार्य को अद्भुत रूप से कर रहा है। गणित की बड़ी-बड़ी जटिल समस्याओं का वह विलक्षण गति से, आकलन करता है। मुझे बताया गया है कि वह उसी प्रकार से कार्य करता है जिस प्रकार से मानव-मस्तिष्क आवश्यक गणना करता है।

तो क्या एक अच्छा मन वह है जो ग्रामोफोन की भाँति, जो उसे बताया जाता है, उसकी आवृत्ति करता रहता है ? हमारी शिक्षा तो यही है, क्या नहीं है ? तथ्यों को अथवा तिथियों को याद करना तथा वर्ष में एक बार जब परीक्षा देनी होती है उनकी आवृत्ति करना, यही हमारी शिक्षा है। क्या इसे एक अच्छे मन का संवर्द्धन कहा जा सकता है ? परन्तु यही है जो हममें से अधिकांश व्यक्ति जब हम पढ़ाते हैं तो कर रहे होते हैं। इसलिये ज्ञान का मात्र संकलन, जो कि वास्तव में स्मृति का संवर्द्धन है, केवल एक संकलनात्मक प्रक्रिया है। वह एक अच्छा एवं स्पष्ट मन नहीं उत्पन्न करती, क्या करती है ? निषेधात्मक रूप से हम देख सकते हैं कि केवल स्मृति का संवर्द्धन एक अच्छा मन नहीं उत्पन्न कर सकता यद्यपि हमारा अधिकांश अस्तित्व उस पर आधारित है। और हमारे पास स्मृति भी होनी चाहिये, एक बहुत अच्छी स्मृति होनी चाहिये कि हम कुछ वस्तुओं को याद रखें, एक अच्छे टेकनीशियन बनें। तो वह कौन सा बिन्दु है जहाँ

स्मृति एक अच्छे मन के लिये, जिसमें व्याख्या, अन्वेषण और खोज की क्षमता है, बाधक बनती है ? वह कौन सा बिन्दु है जहाँ स्मृति वास्तविक स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न करती है।

मैं नहीं जानता कि आपने कभी उस व्यक्ति के विषय में सोचा है जिसने जेट वायुयान का आविष्कार किया। उसे पहले पिस्टन-प्रोपिलर इंजन की सारी समस्या को समझना पड़ा था। उसके विषय में उसे जानना पड़ा था, परन्तु उसको जानने के बाद उसे एक ओर रख देना पड़ा था जिससे कि वह किसी नवीन वस्तु को खोज सके। कोई विशेषज्ञ जब तक कि वह वास्तव में किसी नवीन वस्तु को खोज नहीं लेता, केवल एक अच्छी तथा और अधिक जटिल टेकनीक को जारी रखता है। परन्तु यदि एक मनुष्य को किसी नवीन वस्तु का आविष्कार करना है तो उसे पुरानी को छोड़ ही देना पड़ता है।

शिक्षक : आपने कहा है कि किसी तथ्य का प्रत्यक्षीकरण हमें ज्ञान की सही दिशा में ले जाता है, जब कि आदर्श हमें पलायनों की ओर ले जाते हैं। क्या आप इस कथन को और स्पष्ट कर सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति : आदर्श कैसे अस्तित्व में आते हैं और आदर्शों की आवश्यकता क्या है ? आदर्श अर्थात् जो होना चाहिये तथ्य से दूर है, वह मन को सीमित करता है तथा उसे जड़ बनाता है। यदि कोई बालक किन्हीं आदर्शों के, किन्हीं शिक्षकों के, शब्दों के, अपने पिता के, दादा के, चाचा के शब्दों का अनुगमन करता है तो उससे शक्ति अवरुद्ध होती है तथा ज्ञान सीमित हो जाता है, क्या नहीं होता ? सभी प्रकार का अनुगमन ज्ञान को सीमित करता है। यदि मैं कला का एक अध्यापक हूँ और यदि मैं बालकों को नकल करना सिखाता हूँ, जो कि अनुकृति है, तो उससे सर्जनशील प्रत्यक्षीकरण में अथवा अभिव्यक्ति में वास्तव में बालक की कोई सहायता नहीं होती, क्या होती है ? तो हम देखें कि जब तथ्य का प्रत्यक्षीकरण होता

है तब क्या होता है। मैं देखता हूँ कि मैं मूर्ख हूँ। इस तथ्य का कि मैं मूर्ख हूँ प्रत्यक्षीकरण होता है, अनुभूति होती है, उसकी जागरूकता होती है। अर्थात् अपनी मूर्खता के विषय में मैं न तो कोई स्पष्टीकरण देता हूँ और न कोई मत प्रगट करता हूँ और इस प्रकार किसी व्याख्या के द्वारा पलायन नहीं करता। विना किसी औचित्य-समर्थन के अथवा निन्दा के जब किसी तथ्य का निरीक्षण किया जाता है तो उससे अपार शक्ति विमुक्त होती है। तो क्या अनुगमन से, प्रयोजन से, केवल स्वीकार से, शक्ति विमुक्त होती है ? और क्या व्यक्ति उस स्वीकार के ढाँचे में कार्य कर सकता है ?

शिक्षक : शारीरिक रूप से तो ऐसा होता है।

कृष्णमूर्ति : क्या अनुगमन की प्रक्रिया से शारीरिक शक्ति विमुक्त होती है ? हममें से अधिकांश के अंदर जो यह अद्‌भुत प्रेरणा है कि हम किसी प्रारूप के अनुकूल वनें, किसी प्रारूप का अनुगमन करें, तो उसका क्या प्रयोजन है ? इसके पीछे दवाव डालने वाली कौन सी प्रेरणा है ? स्पष्ट है कि उसके पीछे सुरक्षित होने की प्रेरणा है, क्या नहीं है ? अपनी पत्नी के साथ, अपने पति के साथ सुरक्षित होना, जनता की अथवा किसी मित्र की अच्छी सम्मति में सुरक्षित होना, यह सब केवल आर्थिक सुरक्षा की ही नहीं वरन् अन्दर की मानसिक सुरक्षा अथवा निश्चितता की इच्छा का भी द्योतक है।

शिक्षक : सुरक्षा की माँग इसलिये है कि हम मन की शांति चाहते हैं।

कृष्णमूर्ति : मुझे एक निश्चित मात्रा में सुरक्षा की आवश्यकता है। मुझे एक नौकरी अवश्य मिलनी चाहिये। यदि शाम के भोजन के विषय में मैं अनिश्चित होता तो मैं यहाँ वैठकर बात न करता होता। क्या शांति की इच्छा का यही अर्थ है कि हमारे पास एक ऐसा मन होना चाहिये जिसमें कभी भी विक्षोभ न हो ? और हमें आखिर विक्षोभ होना क्यों नहीं

चाहिये ? यदि हमें विक्षुब्ध किया जाये तो इसमें त्रुटि क्या है ? अधिकांश संसार विक्षुब्ध है, तो हम भी क्यों न विक्षुब्ध हों ? और क्या एक मन जो यह कहता है "मुझे विक्षुब्ध नहीं होना चाहिये," वास्तव में एक मृत मन नहीं है ? मन की कोई ऐसी अवस्था नहीं हो सकती जो यह कहे, "मैं पूर्णतया सुरक्षित हूँ"; ऐसा कोई मन नहीं हो सकता जो इतना सुरक्षित है कि वह कभी भी विक्षुब्ध नहीं होगा। मेरे विचार से हममें से अधिकांश इसी प्रकार का मन चाहते हैं और इसीलिये हम सदा अनुगमन ही करते रहते हैं। यदि आप के एक पुत्र होता तो आप यही चाहते कि वह समाज के ढाँचे का अनुगमन करे, क्योंकि आप नहीं चाहते कि वह एक क्रांतिकारी बने। इसलिये मैं पूछ रहा हूँ कि सुरक्षा की, निश्चितता की, इस आशा की जिसमें निराशा निहित है, माँग के पीछे क्या है ?

हम अब दूसरे प्रकार से इसी विषय पर आयेंगे। मैं केवल अपने से यह पूछ रहा हूँ कि सुरक्षा की यह प्रेरणा क्यों है ? क्या भय के कारण है ? अपने परिवार का भरण-पोषण न कर सकने का मुझे भय है और इसलिये मैं अपनी नौकरी को पकड़े रहता हूँ। मुझे भय है कि कहीं मेरी पत्नी मेरी परवाह न करे अथवा मेरा पति मेरी परवाह न करे। मेरे पास संपत्ति है, और इसलिये मुझे भय है कि मेरी संपत्ति मुझसे न ले ली जाय। इस धौंस के पीछे भय की अनुभूति है, सुरक्षित होने की भावना है।

शिक्षक : हम केवल तभी सुरक्षित हो सकते हैं जब भय न हो।

कृष्णमूर्ति : एक मिनट रुकें। क्या यह संभव है ? आप जानते हैं कि भय क्या है ? यदि हममें से अधिकांश सभी प्रकार के भय से मुक्त हों तो आप जानते हैं क्या होगा ? हम ठीक वही करेंगे जो हम करना चाहते हैं। भय हमको रोकता है, क्या ऐसा नहीं होता ? लेकिन हम पूछ रहे हैं कि कोई मन जो भयभीत है, चिन्ताकुल है, क्या वह कभी सुरक्षित है ? मेरे पास एक अच्छी नौकरी हो सकती है, मुझे अपनी पत्नी अथवा पति

से प्रेम ले सकता है, परन्तु जब यह भय मेरे अन्दर बना हुआ है तो क्या मैं सुरक्षित हूँ ? भय मुक्त होना, जो कि एक अद्भुत अवस्था है, सुरक्षा की समस्या से मुक्त होना है। क्या इस मन के लिये भय को समझना और भय से मुक्त होना सम्भव है ? ऐसा मन स्वतन्त्र होता है और जो कुछ वह स्वतंत्र होने के कारण करता है, वह सही होता है।

आप कैसे बच्चों के किसी समूह को भय मुक्त होने की शिक्षा देंगे ? इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ऐसा सब कुछ करें जो वे करना चाहते हैं—वरन् इस अर्थ में स्वतंत्र कि उन्हें कोई आशंका, कोई चिताकुलता नहीं है। क्या यह सब अत्यधिक मात्रा में शक्ति को विमुक्त नहीं करेगा ?

आप बालक का शिक्षण कैसे आरम्भ करेंगे ? आप भयभीत हैं और आप देखते हैं कि भय सर्वाधिक विक्षोभ उत्पन्न करता है। यह सबसे बुरा विनाश का रूप है। किसी बालक को मैं कैसे भय से मुक्त होने की शिक्षा दूँ ? इसको कार्य रूप में परिणित करने के लिये कोई शिक्षक क्या कर सकता है ? क्या इसका अर्थ यह है कि बालक को स्वतंत्र रूप से सोचने की अनुमति दी जाय ? आप भय से मुक्त होने के महत्व को देखते हैं, क्योंकि भय की इस अवस्था में रहने का अर्थ मृत्यु है। भय चाहे सचेत हो अथवा अचेत, वह आपके मन को परेशान करता है। एक बालक की इसमें आप कैसे सहायता करेंगे कि वह भयभीत न हो और फिर भी दूसरों के साथ रहे ? वह जो चाहे नहीं कर सकता, जैसे कि वह नहीं कह सकता "मुझे कक्षा में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मैं भय-मुक्त हूँ।" तो एक छात्र को, एक बालक को, भय से मुक्त क्या करता है ? उसे यह अनुभूति गहराई से कैसे होती है कि वह स्वतंत्र है—वह स्वतंत्र है न कि वह जो चाहता है करता है ? यदि कोई बालक यह अनुभव करता है कि आप उसकी वास्तव में देख-भाल करते हैं, कि आप उसका ध्यान रखते हैं, और वह आप से पूर्णतया आत्मीयता अनुभव करता है, आपके साथ वह पूर्णतया सुरक्षित है, वह

आपसे भयभीत नहीं है, तो वह आपका सम्मान करता है, आपकी बात सुनता है क्योंकि आप उसकी देख-भाल कर रहे हैं और उसे आप में पूरा भरोसा है। तो जो कुछ उसे आप बताते हैं उससे उसे कोई कठिनाई नहीं होती। इसलिये वह द्वार उसके लिये खोलिये कि वह भय मुक्त हो सके। इस विषय में आगे बढ़ने का दूसरा क्या तरीका हो सकता है? सबसे पहले आपको छात्र से एक सम्बन्ध स्थापित करना होता है, आपको उसे यह ज्ञात कराना पड़ता है कि आप वास्तव में उसकी देख-भाल करते हैं, कि वह वास्तव में आपसे आत्मीयता अनुभव कर सकता है और, इस प्रकार, वह पूर्णतया सुरक्षित तथा अशांति विहीन अनुभव कर सकता है। यह एक सिद्धांत नहीं है, और न तो यह एक कल्पना ही है। आप क्या करेंगे यदि आपका छात्र किसी परीक्षा में असफल हो जाता है? ऐसा हो सकता है कि एक छात्र दूसरे की तरह तेज न हो। फिर सीखना उसे भी तो है। भय उत्पन्न किये बिना आप उसे इस सीखने के प्रति कैसे प्रोत्साहित करेंगे? यदि आप कहते हैं कि एक बालक दूसरे बालक से अच्छा है तो इससे तो भय उत्पन्न होता है। इस सबसे आप कैसे बचेंगे और कैसे आप बालक की सहायता करेंगे कि वह सीखे? वह बालक एक ऐसे घर से आया है जहाँ उसका पालन-पोषण भिन्न प्रकार से हुआ है। उसका समस्त जीवन उपलब्धि के, सफलता के ढाँचे में ढाला गया है, और वह यहाँ आया है अपने भय तथा प्रतियोगिता की उस तमाम पृष्ठभूमि के साथ। आप उसकी सहायता कैसे करेंगे?

शिक्षक : उसकी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार ही हम उसकी सहायता कर सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : हम जरा धीरे-धीरे चलें। प्रश्न है कि इसको कैसे किया जाय? यह स्कूल आपके हाथों में है। आपको उसमें से कुछ बनाना है। शिक्षण एक सर्जनशील वस्तु है, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आप सीख लें और फिर दोहरा दें। अपनी कक्षा में उन बालकों को जिनके लिये आपके

अंदर प्रेम की अनुभूति है आप कैसे शिक्षित करने जा रहे हैं ? यांद रखें, वे आपकी शिक्षा में रूचि नहीं रखते । वे मौज के साथ अपना समय विताना चाहते हैं । वे क्रिकेट खेलने में, पक्षियों को देखने में, और कभी-कभी किसी पुस्तक को देख लेने में अपना समय विताना चाहते हैं । वास्तविकता यह है कि वे वही करना चाहते हैं जो सर्वाधिक सरल हो । यदि उनके ही ऊपर आप छोड़ दें तो जितना अधिक वे आप के साथ सुरक्षित हैं उतना ही अधिक वे आपका दुरुपयोग करेंगे । आप सीखने में उनकी कैसे सहायता करेंगे ? आपको उन्हें पढ़ाने के लिये तरीके ढूढ़ने पड़ेगें और उससे वालक के लिये विषय को रुचिकर वनाने के तरीके ढूंढ़ने में ही आपकी शक्ति विमुक्त होगी ।

इससे पहले कि किसी वालक के विषय में आप आगे वढ़ें, आपके मन की क्या अवस्था है जो वालक के लिये एक ऐसा विषय सीखने में सहायक होना चाहती है जिसमें उसकी रूचि नहीं है ?

शिक्षक : यह एक प्रेरणा है जिसमें कि अपने सीखने में हम वालक को भी साझीदार वनाते हैं ।

कृष्णमूर्ति : मैं चाहता हूँ कि ये बालक सीखें, क्योंकि सीखना जीवन का अंग है और वालक तभी सीख सकता है जव भय न हो । मुझे इस प्रकार वालक को सिखाना चाहिये कि वह विना भय के सीखे, जिसका अर्थ है कि मैं उस वालक के साथ साझा करने की इच्छा की इस भावना का विस्फोट करूँ । मन की उस अवस्था को क्या आप जानते हैं जो दूसरों के साथ साझा वटाना चाहती है ? स्वयं अपने में वह सही अनुभूति प्रतीत होती है । उसका क्या निहितार्थ है, उसे क्या आप जानते हैं ? तथ्य यह है कि मैं अधिक जानता हूँ, बालक कम जानता है, और मेरे अंदर यह अनुभूति है कि उसे सीखना चाहिये, कि उसको इस साझे के योग्य होना चाहिये । हम दोनों सीख रहे हैं इसका अर्थ है कि हम दोनों किसी

अनुभव की अनुभूति साथ-साथ कर रहे हैं। तो बालक और हम पहले ही एक संवाद की अवस्था में हैं। एक बार अपने और बालक के बीच मैंने सही संबन्ध अथवा संवाद स्थापित कर लिया, तो वह सीखेगा क्योंकि उसे मुझमें विश्वास है।

शिक्षक : शिक्षक को बालक बड़ा प्रिय हो फिर भी बालक सीखने के लिये तैयार नहीं हो रहा है, उसे रुचि नहीं है।

कृष्णमूर्ति : मुझे इसपर संदेह है। जब बालक को आप में विश्वास है तो क्या आप सोचते हैं कि जो भी विषय आप उसे पढ़ाना चाहें उनमें से किसी को भी वह नहीं सीखेगा। जो हम चाहते हैं वह यही है कि हम संबंध स्थापित करें। यदि वह संभव है तो फिर क्या मैं किसी विषय के सीखने के महत्व को उस तक नहीं सम्प्रेषित करूँगा ?

आज सवेरे जब हमने चर्चा आरम्भ की थी तो वक्ता और श्रोता के बीच कोई संवादशीलता नहीं थी। अब हमने एक प्रकार की संवादशीलता स्थापित कर ली है और हम मिल कर उस वस्तु का समाधान निकाल रहे हैं। क्या हम ऐसा ही बच्चों के साथ नहीं कर सकते ?

परिच्छेद—९

निषेधात्मक दृष्टि

कृष्णमूर्ति : आपके विचार में सही शिक्षा क्या है, केवल वच्चों की—न किसी विशेष वर्ग के वच्चे, धनी अथवा निर्धन वच्चे, नगर अथवा ग्राम के वच्चे ? आप जानते हैं कि विनाशकारी राष्ट्रवाद की दीवारें लोगों को विभाजित करती हैं। तो यह जानते हुये आप किसी वालक का कैसे विकास करेंगे ?

यंत्र मनुष्य के श्रम का स्थान ले रहें हैं जिससे मनुष्य को और भी अधिक अवकाश का समय मिलने जा रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क एवं मशीनें रहेंगीं जो अपने से ही कार्य करेंगी। इस प्रकार मनुष्य को एक वड़ी मात्रा में अवकाश मिलने वाला है। हो सकता है यह स्थिति तत्काल न आये परन्तु पचास अथवा सौ वर्ष में ऐसा होगा। विश्व में टेकनालॉजी उन्नति पर है, व्यवस्था-प्रणाली निरंतर वढ़ती जा रही है, सत्ता एवं अधिनायकवाद को स्वीकार कर लिया गया है। तो इन सवका ध्यान रखते हुये आपके विचार में शिक्षा की दिशा क्या है ? आपके विचार में मनुष्य के समग्र विकास की दिशा क्या है ? वह क्या है जिसे आप चाहेगें कि वालक अपने लिये खोज करे ?

क्या ये सब व्यर्थ के प्रश्न हैं ? यदि आप उनपर गम्भीरता से विचार करें तो आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी ? मशीनें कार्य-भार अपने ऊपर लेने जा रही हैं। आप कल्पना करें कि एक ऐसा निपुण अध्यापक जो अपने विषय में वास्तव में विलक्षण है किसी एक कक्षा को पढ़ायें और उसके अध्यापन को टेप के ऊपर रेकार्ड कर लिया जाय और सारे विश्व में उसे वितरित कर दिया जाय। तो इस प्रकार एक साधारण अध्यापक भी अपने अध्यापन में उसका प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार यद्यपि आपको शिक्षकों की आवश्यकता तो होगी परन्तु अच्छे शिक्षण के दायित्व को व्यक्तिगत हाथों से तो ले ही लिया जा सकता है। आप यह भी कह सकते हैं कि पचास वर्ष बाद क्या होगा यह हमारी तात्कालिक समस्या नहीं है। परन्तु एक वास्तव में अच्छे शिक्षक को केवल उसी की चिंता नहीं होनी चाहिये तो तात्कालिक है अपितु उसे भविष्य के लिये भी तैयार होना चाहिये—भविष्य इस अर्थ में नहीं कि एक दिन बाद अथवा एक हजार दिन बाद क्या होगा वरन् इस अर्थ में कि मन के इस अद्‌भुत विकास की प्रवित्ति क्या होगी। मैं समझता हूँ कि आपका अस्तित्व दिन-प्रति-दिन तक ही सीमित रहता है। जो तत्काल है वह क्रूर है और थकाने वाला होता है और आप कहते हैं "मैं इसकी क्यों चिंता करूँ कि भविष्य में क्या होने वाला है ?" परन्तु यदि आपके पास एक बालक है, आप किन्हीं छात्रों के अध्यापक हैं, तो यदि इस सब के प्रति आपके पास एक व्यापक दृष्टि न हो तो आप शिक्षा के अर्थ को देख और समझ नहीं सकते। जब आप इन बालक और बालिकाओं को शिक्षित कर लेते हैं तो उसके बाद क्या होगा ? बालिकाएँ विवाह कर लेंगी और इस बड़े संसार में खो जायेंगी। समाज द्वारा उन्हें जज्ब कर लिया जायेगा। तो उन्हें पढ़ाने से फिर क्या लाभ ? इसी प्रकार बालकों को नौकरियाँ मिल जायेंगी। तो इस सड़े हुये समाज के अनुकूल बनने के लिये आप उन्हें शिक्षित क्यों करते हैं ? व्यवहार कैसे करना चाहिये, सहृदय और दयालु कैसे बनना चाहिये, क्या

यही उन्हें सिखाना शिक्षा का अन्त है ? केवल भारत में ही नहीं, विश्व में जो कुछ हो रहा है, उसको समग्रता से देखिये। तो इस समग्र तस्वीर को देखकर, उसे समझ कर, वह क्या है जिसे आप करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?

जब तक इस सारी समस्या के प्रति आपकी कोई समग्र अनुक्रिया नहीं है तो शिक्षण-पद्धतियों में यहाँ-वहाँ पैवन्द लगाकर उन्नति करने का कोई महत्व नहीं है। विश्व में आग लगी हुई है, और एक शिक्षित मनुष्य होने के नाते आपके पास इस विषय में सही उत्तर होना चाहिये; एक मनुष्य होने के नाते आपके पास इसका उत्तर होना चाहिये, और यदि आपके पास इसका उत्तर है, इस समस्त बुराई के प्रति एक अनुभूति है तो जब आप गणित, नृत्य, गायन, पढ़ाते हैं तो उसका एक महत्व होता है।

शिक्षक : यदि किसी वस्तु के प्रति मेरे अंदर यह समग्र अनुभूति नहीं है तो क्या आपके विचार से उस अनुभूति के उत्पन्न होने की संभावना है जब कि मैं जो कुछ करता हूँ उसे भलीभाँति करूँ ?

कृष्णमूर्ति : मैं चाहता हूँ कि आप तथ्यनिष्ठ हों।

शिक्षक : समय का पालन करना, टेकनीक को सीखना, शिक्षण के पहले अध्ययन करना और किसी कार्य को एक पूर्णता के साथ करना—क्या यह समग्र की अनुभूति के गुण को उत्पन्न करने में सहायक होगा ?

कृष्णमूर्ति : क्या इससे होगा ? यह आवश्यक है कि मैं समय का पालन करूँ, कि मैं शिक्षण के पहले अध्ययन करूँ—यह तो समझ में आता है। और आपका प्रश्न है कि क्या इस सब से समग्र अनुभूति उत्पन्न होगी ?

शिक्षक : मेरी अनुभूति है कि जब मैं किसी वस्तु का ध्यान से अध्ययन करता हूँ तो इसकी संभावना है—यद्यपि यह एक निश्चितता नहीं है।

कृष्णमूर्ति : आप किसी वस्तु को करने से, समय का पालन आदि करने से अब "ध्यान" पर चले गये। आपका ध्यान से क्या अर्थ है ? मैं ध्यान को एक अर्थ से देखता हूँ और आप उसे दूसरा अर्थ दे सकते हैं। मैं गणित का अध्ययन-अध्यापन करूँगा और समय का पालन करूँगा। मैं बड़ा शान्त, बड़ा विनम्र और स्नेहपूर्ण रहूँगा, छात्र को प्रोत्साहित करूँगा, उसे प्रतियोगिता के लिए हतोत्साहित करूँगा। क्या आप इसे एक ध्यानपूर्ण मन कहेंगे ?

शिक्षक : मेरे विचार से तो यही है। किसी छात्र को प्रतियोगिता से विरत करने में सहायक होना ध्यान का एक गुण है।

कृष्णमूर्ति : उसका क्या अर्थ है ? ध्यान आप अपने विषय के प्रति रखते हैं, छात्र के साथ अपने संबन्ध के प्रति रखते हैं; प्रकृति के प्रति, विश्व की घटनाओं और विश्व की प्रवृत्तियों के प्रति भी ध्यान रखते हैं; केवल व्यक्तिगत भ्रष्टाचार और महत्वाकांक्षाओं के प्रति ही नहीं वरन् समूहों द्वारा किये गये भ्रष्टाचार और उनकी महत्वाकांक्षाओं के प्रति भी ध्यान रखते हैं। परन्तु यदि आप कहते हैं कि आप ध्यानपूर्ण हैं क्योंकि आप अपनी कक्षा में ठीक समय से जाते हैं, तो इसका कोई अर्थ नहीं है।

क्या आप इस प्रश्न को एक दूसरे प्रकार से रख सकते हैं ? क्या इस समग्र बोध को बिना किसी भय के प्राप्त करना सम्भव है ? इस प्रकार के बोध की संभावना पर विचार करने में और उसकी खोज करने में क्या हम प्रतिदिन की क्रियाओं पर ध्यान दे सकते हैं, न कि दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं पर विचार करके उस संबोध पर पहुँचना ? तो इस पर अब आप कैसे विचार करेंगे ?

हम किससे अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं ? यदि हम कुछ भोजन करते हैं तो हमें कोई शक्ति मिलती है, परन्तु यह वह शक्ति नहीं है जो जीवित रखती है, हमसे कार्य कराती है और हमें सचेत रखती है। शक्ति जो

मनोवैज्ञानिक है, प्रेरक है, वह हमें कैसे प्राप्त होती है ? अधिकांश व्यक्ति किसी लक्ष्य अथवा 'स्व' को सामने रखकर, कोई दृष्टि अथवा आदर्श निर्धारित करके, यह सोचकर कि किसी वस्तु को, किसी परिणाम को होना ही चाहिये, उस शक्ति को प्राप्त करते हैं। वह व्यक्ति को एक अद्भुत शक्ति प्रदान करता है। संतों और राजनीतिज्ञों को देखें; सफलता की इच्छा उन्हें भारी शक्ति प्रदान करती है। वह व्यक्ति जिसकी दृष्टि में कोई आदर्श है और जो सोचता है कि उसे पृथ्वी पर स्थापित होना ही चाहिये, वह सारी पृथ्वी का चक्कर लगायेगा। अपने कमजोर शरीर के बाद भी उसें यह मनोवैज्ञानिक शक्ति मिलती हैं, क्योंकि वही कार्य है जिसें उसको करना है, क्योंकि उसके विचार से वह लोगों के लिए हित का है और उससें उस व्यक्ति को अपार शक्ति मिलती है। और जब वह सफल नहीं होता तो वह निराशा, हतोत्साह, दुःख का अनुभव करता है, परन्तु वह उस दुःख को छिपा लेता है और आगे बढ़ता जाता है। अधिकांश व्यक्ति किसी पद को उपलब्ध करने की अथवा किसी महत्वाकांक्षा अथवा आदर्श को परिपूर्ण करने की इच्छा के माध्यम से कुछ परिणाम चाहते हैं और उससे शक्ति प्राप्त करते हैं। उसके साथ होने वाली निराशाओं और हताशाओं से वे शक्ति प्राप्त करते हैं। उसमें शक्ति की बरबादी होती है।

यदि आप ईश्वर में रुचि रखते हैं तो संसार में सर्वाधिक सुन्दर ईश्वर का आप सर्जन करना चाहते हैं और उसमें आप अपने को लगा देते हैं, अपने को थका देते हैं, और जब आपकी यह प्रेरणा निरर्थक हो जाती है, निराशा में बदल जाती है तो आप हतोत्साहित हो जाते हैं। इस प्रकार आप एक जीवित शक्ति का एक निषेधात्मक शक्ति से जो कि हतोत्साह है, दुःख है, सामना करते हैं; इस प्रकार एक अंतर्विरोध चलता रहता है।

शिक्षक : क्या जब कोई व्यक्ति किसी ऐसे काम को कर रहा है जिसमें उसकी रुचि नहीं है तो शक्ति का नाश नहीं होता ? उदाहरणार्थ,

जब एक माली बागवानी में रुचि रखता है तो वहाँ शक्ति होती है। क्या यह वास्तविक शक्ति नहीं है और क्या दूसरी को शक्ति कहा भी जा सकता है ?

कृष्णमूर्ति : बेचारा माली भी हताश होता है जब उसे वह नहीं मिल पाता जो वह चाहता है। आप रुचि को शक्ति से जोड़ रहे हैं और रुचि के अभाव को शक्ति के अभाव से। हममें से बहुत कम ऐसे हैं जो उसमें वास्तव में रुचि रखते हैं जिसे वे कर रहे हैं।

हममें से अधिकांश व्यक्ति सुरक्षा की इच्छा से, आदर्शों से, किसी फल के अथवा महत्वाकांक्षा के पूर्ण होने की आशा आदि से शक्ति प्राप्त करते हैं। हममें से अधिकांश के लिये वही शक्ति है। उस व्यक्ति के लिये जो दूसरों का हित करता फिरता है, उसका यह कार्य उसे बड़ी शक्ति प्रदान करता है। और जब उसे सफलता नहीं मिलती तो उसे निराशा होती है। दोनों वस्तुएँ हमेशा साथ-साथ चलती हैं। वह शक्ति हमेशा अपने साथ हतोत्साह और निराशा लाती है।

यह जानकर कि शक्ति का यह रूप बड़ा विनाशकारी है क्या आप एक ऐसी शक्ति की खोज के लिये अन्वेषण नहीं करेंगे जिसके साथ निराशा, हतोत्साह और कुण्ठा न हो ? क्या ऐसी शक्ति है ? व्यक्ति साधारण शक्ति को उसके तमाम मोहपाशों के साथ तो जानता है और वह उस शक्ति को भी जानता है जो किसी फल की खोज के माध्यम से उत्पन्न होती है; और यदि उसको समझ कर व्यक्ति उसकी उपेक्षा कर दे तो क्या उससे स्वतः ही अन्वेषण नहीं आरम्भ होगा कि क्या वहाँ कोई अन्य रूप की कोई शक्ति है जो निराशा से नहीं जुड़ी है ? यही समस्या है। उसको कुछ देर तक देखें, इस पर विचार करें, और तब पुनः पहले प्रश्न पर चलें। इस संसार को देख कर जो कि जल रहा है, संसार जो कि अत्यंत भ्रान्ति में है, जिसको सुधारने के लिये प्रत्येक राजनीतिज्ञ उसमें पैबन्द लगा रहा

है और जिसके प्रत्येक पैवन्द में छिद्र है—इस सारी दशा को देख कर हमारे पास एक समग्र उत्तर होना चाहिये। तो एक शिक्षक के रूप में आप इसके प्रती कैसी अनुक्रिया करेंगे? आप इस स्थिति का सामना क्या उस शक्ति से करेंगे जो कि विनाशकारी है अथवा उस शक्ति से जो कि विनाश कारी नहीं है?

शिक्षक : वह शक्ति क्या है जिसके साथ विनाश की कोई छाया भी नहीं है।

कृष्णमूर्ति : इस प्रश्न को न पूछें। एक विध्यात्मक प्रश्न कभी न करें। एक ऐसा विध्यात्मक उत्तर पानें के लिये जो किसी विपक्ष की प्रतिक्रिया नहीं है सदा निषेधात्मक प्रश्न करें।

तो, विषेधात्मक विचारणा क्या है? यह सर्जन जो कि विनाशकारी नहीं है क्या है? यह एक विध्यात्मक प्रश्न है।

यह समग्र शक्ति क्या है? क्या इस समग्र शक्ति का जो कि विनाश कारी नहीं है, हमारे लिये वर्णन करना सही होगा? और क्या मैं इसका वर्णन कर सकता हूँ? यदि मैं उसका वर्णन करता तो क्या वह वर्णन दूसरों के लिये केवल शाब्दिक, सैद्धान्तिक नहीं होगा?

जैसे ही आप शक्ति को उपलब्ध करना चाहते हैं, वह एक विनाशकारी वस्तु हो जाती है। उसको उपलब्ध करने की इच्छा एक लक्ष्य बन जाती है, जिसके लिये आप प्रयत्न करते हैं। और यदि आप उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो आपको निराशा होती है। अतः आपका प्रश्न एक गलत प्रश्न था और यदि पर्याप्त सावधानी न की जाय तो एक गलत उत्तर निकलेगा। इसलिये अगला प्रश्न क्या होना चाहिये कि "इस समग्र शक्ति के अनुभव में आप मेरी कैसे सहायता करेंगे?" यदि मुझे आपकी सहायता करनी होती, तो आप सहायक पर निर्भर करते होते और फिर सहायक तो गलत हो सकता है। इसलिये आप इस प्रश्न को कैसे रखेंगे?

शिक्षक : क्या इस समय संवाद में इस समग्र शक्ति का अनुभव संभव है ?

कृष्णमूर्ति : आप इसी प्रश्न को एक दूसरे से भी पूछ सकते हैं। आप बरावर एक ऐसी वस्तु के विषय में जिसे आप नहीं जानते विध्यात्मक प्रश्न ही पूछ रहें हैं। आप का प्रश्न समस्या से संबन्धित नहीं है। तो अब इस प्रश्न को आप कैसे करेंगे ?

शिक्षक : क्या आपके कहने का तात्पर्य है कि सही प्रश्न को इस प्रकार होना चाहिये "जब इस शक्ति के विनाशकारी रूप को मैं देखता हूँ ...... ।"

कृष्णमूर्ति : शक्ति, जो कि विनाशकारी हैं, उसके मिथ्यात्व को देखना स्वयं अपने में ही उत्तर है। इस शक्ति के विनाशकारी रूप के आगे आप जा ही नहीं सकते और यह कह ही नहीं सकते कि वह क्या है।

क्या आप विनाशकारी शक्ति को उत्पन्न करने में लगे रहना बंद कर सकते हैं ? तब आप यह नहीं पूछेंगे कि वह दूसरी शक्ति क्या है। जो कुछ आप पूछ सकते हैं वह यही है, "क्या इस आत्म-सर्जित विनाशकारी शक्ति को रोकना संभव है ?" आप विध्यात्मक रूप से इस शक्ति का अन्वेषण नहीं कर सकते, वहाँ एक निषेधात्मक दृष्टि ही होनी चाहिये—किसी तथ्य को विध्यात्मक रूप से नहीं वरन् निशेधात्मक रूप से ऐसे समझना कि दूसरे तथ्य पर पहुँचा जा सके—क्योंकि आप दूसरे तथ्य को नहीं जानते। इसलिये आपकी दृष्टि को इस अर्थ में निषेधात्क होना चाहिये कि आप उस शक्ति की वास्तविकता को देखें जो कि आत्म-विनाशकारी है।

क्या मैं निषेधात्मक रूप से समझ सकता हूँ ? क्या मैं किसी टेकनीक को सीख सकता हूँ और क्या मेरा मन इस सीखी हुई टेकनीक से इस प्रकार अपने को मुक्त कर सकता है कि कोई प्रतिक्रिया शेष न रह जाय ? तभी मन एक दूसरे प्रकार की शक्ति के प्रति विवृत होता है।

समस्त विश्व एक बड़ी व्यापक दुर्व्यवस्था में, भ्रान्ति में है। उसके प्रति आप एक समग्रतापूर्ण अनुक्रिया तभी कर सकते हैं जब आपके पास एक ऐसी शक्ति हो जो उस साधारण शक्ति से भिन्न हो जिसे आप प्रायः किसी समस्या के हल में लगाते हैं। किसी समस्या के प्रति जो सामान्य दृष्टि-कोण होता है उसमें आशा, भय, सफलता, परितुष्टीकरण और उसके साथ रहने वाली निराशा आदि निहित होती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है। ये सब मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं। यहाँ हमारे सामने एक विश्व-समस्या है और आपको उसे निराशा वाली शक्ति के साथ नहीं देखना है। उसे तो एक ऐसी शक्ति से देखना है जो निराशा द्वारा भ्रष्ट नहीं हुई है। वह शक्ति तो विनाशकारी है नहीं और उस तक पहुँचने के लिए मन को निराशा वाली शक्ति से मुक्त होना चाहिये। यह एक विश्व समस्या है, आप इसका उत्तर कैसे देंगे? क्या आप उसका उत्तर एक आदर्शवादी रूप में देते हैं जिसके साथ अभिप्राय, इच्छा एवं भावना है कि "ऐसा करना ही उचित है"? यदि आप ऐसा करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपने इसका उत्तर निराशा की शक्ति के साथ देते हैं। यदि इस समस्या को उसकी समग्रता में आप उस नवीन प्रकार की शक्ति से देखें, तो आपको ठीक उत्तर मिलेगा।

शिक्षक: जिस अनुभूति की ओर आप संकेत कर रहें हैं उसके सम्प्रेषण के विषय में मैं कुछ और चर्चा करना चाहूँगा — यह अनुभूति कि हम अपनी शिक्षा के द्वारा निराशा की शक्ति को कायम रख रहें हैं और इसलिये ऐसी शिक्षा निराशाजनक है। क्या हम शिक्षा का जो स्वीकृत अर्थ है उस अर्थ में शिक्षा देते हुये भी दूसरी को प्राप्त कर सकते हैं? क्या कोई व्यक्ति जो किसी विषय का उत्कृष्टता से शिक्षण कर रहा है, उतनी पूर्णता से शिक्षण देने के साथ ही उस सम्पूर्ण, उस समग्र, अनुभूति को प्राप्त कर सकता है? क्या बिना किसी हेतु के वह ऐसा कर सकता है! क्या वह प्रेम की अनुभूति के साथ और उस वस्तु में सम्पूर्ण

ध्यान के साथ जिसे वह कर रहा है, ऐसा कर सकता है ? क्या शक्ति के नवीन स्त्रोतों के प्रति मन को उन्मुख रखने में यह सहायता करेगा ?

कृष्णमूर्ति : आप परिकल्पनाओं को वीच में ला रहें हैं, वे तथ्य नहीं हैं। आप देखें, आप में प्रेम नहीं है। कभी ही कभी मेधों के वीच से आप को चमकता हुआ प्रकाश दिखाई दे जाता है, परन्तु ऐसा केवल कभी-कभी होता है । आप तथ्यों का सामना नहीं कर रहें हैं। आप परिकल्पनाओं की चर्चा कर रहें हैं। यदि आप तथ्यों का सामना कर रहे होंते तो आप उत्तर दें सकते थे।

यह कथन पर्याप्त नहीं है कि "कभी-कभी मैं ध्यान देता हूँ, विना किसी वदले की आशा किये मैं प्रेम करता हूँ" । आप इसे कभी-कभी करते होंगे, परन्तु आवश्यकता एक दिन की नहीं वरन् वर्ष के कुल तीन सौ पैंसठ दिन इसे करने की है।

शिक्षक : जैसा कि मैं देखता हूँ, जो कुछ भी मैं करता हूँ, इसमें कुछ-न-कुछ परिवर्द्धन करना चाहता हूँ।

कृष्णमूर्ति : जहाँ ऋण है वहाँ आप धन नहीं लगा सकते, जो विनाशकारी है उसमें सर्जनशील जैसा कुछ नहीं रख सकते। जो सर्जनशील है उसके आने के लिये विनाशकारी शक्ति का अंत होना ही होगा।

आपके पास समय है, आपके पास ध्यान के लिये अवकाश है, और विना किसी प्रकार की भावुकता लाये आपको अपने में इस विनाशकारी शक्ति की खोज करना है। यह जागरूकता की एक सतत प्रक्रिया है जिसमें आप दूसरी शक्ति के लिये निरंतर द्वार खोले रहते हैं । यह सदा एक समग्र प्रक्रिया है।

इसके लिये एक मनोवैज्ञानिक परिवेश की आवश्यकता है, जिसका अर्थ है शिक्षण-प्रक्रिया में एक पारस्परिक संवंध, और उस संवंध के लिये सूक्ष्म

की आवश्यकता होती है। यदि आपके मन में कोई लक्ष्य है तो आप में वह सूक्ष्मता और नमनीयता नहीं हो सकती। यदि आप किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर विचार कर रहें हैं, अथवा अनेक महान टेकनिकों के ज्ञान के अनुभव से विचार कर रहें है तो आपमें वह नमनींयता, सूक्ष्मता नहीं हो सकती ।

क्या आपने उस व्यक्ति से जो किसी आदर्श से, किसी रूढ़ि-सिद्धान्त से पूरी तौर में घिरा हुआ है, बात की है? उसमें कोई नमनीयता, कोई सूक्ष्मता, नहीं होती। नमनीयता और सूक्ष्मता तभी आती है जब मन के पास कोई विश्वास का भरोसा नहीं होता।

शिक्षक : क्या उन परिस्थितियों को बनाना संभव है जिनसे यह नमनीयता और सूक्ष्मता आये ? संगठनों की, संस्थाओं की, सीमा में ऐसा करना सदा संभव नहीं होता।

कृष्णमूर्ति : विरोध और प्रतिरोध दोनों से रहित संबन्ध को व्यक्ति कैसे संभव बनाता है ? समानता का बोध कैसे उत्पन्न किया जाता है ? यदि आप उस अनुभूति को स्थापित कर सकते हैं तो फिर अगला कदम क्या है ? क्या कोई अगला कदम है भी ?

सर्वप्रथम क्या किसी संगठन में रह कर परस्पर विश्वास स्थापित करना संभव होता है ? उसके लिये मेरे अन्दर और दूसरों के अन्दर सम्यक् बुद्धि की आवश्यकता होती है।

शिक्षक : जैसा कि आपने कहा समस्या यह है कि वह सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाय जिसमें ऊँच-नीच का बोध न हो और जिसमें इस समग्र अनुभूति के प्रति जागरूकता हो।

कृष्णमूर्ति : इस समग्र अनुभूति के विषय में हम कुछ नही जानते। परन्तु शक्ति के कुछ विनाशकारी रूपों को हम जानते हैं और मन अपने को उसके फंदों से छुड़ाना चाहता है।

हम जानते हैं कि समानता होनी चाहिये और जब विभाजन हैं, गुटबाजी है, जब हम केवल आर्थिक स्तर पर कार्य कर रहे होते हैं और जब विनाशकारी शक्ति के स्वरूप का हमें बोध नहीं है, तो समानता भी नहीं होती। प्रश्न केवल आर्थिक समानता की स्थापना का ही नहीं है बल्कि समानता की स्थापना तो प्रत्येक स्तर पर करनी है। यदि प्रत्येक स्तर पर तथा अपने अन्दर भी हम आरम्भ से ही समानता नहीं स्थापित करते तो हमारा परस्पर संपर्क नहीं होता। तो उस अर्थ में समानता को स्थापित करने में, कि टेकनीक की समानता को स्थापित करते में, क्या हम अपना समय लगा सकते हैं ? क्या अपने बीच समानता की इस भावना को जिसमें सभी विषमताएँ समाप्त हो गई हैं स्थापित करने के लिये हम एक हो सकते हैं ? तभी हम स्वतंत्र होते हैं। हमें निश्चित रूप से देखना चाहिये कि कम-से-कम हममें से कुछ लोग तो उस मार्ग पर चल रहे हों। तब हममें से कुछ धीमें चल सकते हैं, कुछ तेज चल सकतें हैं, परन्तु दिशा वही रहेगी और वह दिशा समानता है। वास्तव में यह संसार की ओर पीठ घुमाने की भाँति होगा। यदि आप देखते हैं कि निराशा की शक्ति किस प्रकार पंगु बनाती है तो आपको उससे सन्यास लेना होता है। यदि इसके प्रति आप सजग हैं तो इसका अर्थ है कि विश्व के साथ आपका संबंध पूर्णतया एक भिन्न कोटि का है और इससे अनेक द्वार खुल जाते हैं।

———

परिच्छेद—१०

ध्यान और शिक्षा

हम मनुष्य हैं अथवा व्यवसायी व्यक्ति ? हमारे व्यवसाय हमारा समस्त जीवन ले लेते हैं और मन के सम्वर्द्धन में अथवा उसको समझने में हम बहुत कम समय देते हैं जब कि जीवन यही है। परन्तु हमारे लिये व्यवसाय पहले आता है, जीना बाद में। हम जीवन को व्यवसाय की दृष्टि से अथवा नौकरी की दृष्टि से देखते हैं और उसी में अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। फिर, अपने जीवन के अंत में हम ध्यान की ओर, मन की एक ध्यान-निष्ट अभिवृत्ति की ओर मुड़ते हैं।

क्या हम केवल शिक्षक ही हैं अथवा हम मनुष्य भी हैं जो शिक्षा को समग्र मन के विकास में मनुष्यों की सहायता करने का एक महत्वपूर्ण तथा सच्चा मार्ग मानते हैं। जीना शिक्षण के पहले आता है। वह मनुष्य जो कि विशेषज्ञ है—नाक अथवा गले का विशेषज्ञ—नाक अथवा गले की परीक्षा में अपना सारा दिन व्यतीत करता है और स्पष्टतया उसका मन नाक और गलों से भरा रहता है और केवल कभी-कभी ही वह ध्यान के विषय में सोच सकता है अथवा सत्य को देख सकता है।

जीवन के प्रति एक व्यापक, समग्र दृष्टि के रूप में ध्यान के प्रश्न पर क्या हम विचार कर सकते हैं, उस दृष्टि पर जिसमें ध्यान क्या है इसका बोध

भी निहित है ? मैं नहीं जानता कि आपमें से कोई ध्यान करता है, और यह भी नहीं जानता कि ध्यान का आपके लिये क्या अर्थ है। शिक्षा में ध्यान का क्या स्थान है और वहाँ आप ध्यान से क्या अर्थ रखते हैं ? हम किसी पदवी को प्राप्त करने को, नौकरी प्राप्त करने को, आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करने को बड़ा महत्व देते हैं; हमारी विचारणा का समस्त ढाँचा यही है। और ध्यान क्या है, ईश्वर क्या है, इसके वास्तविक अन्वेषण का, उस अपरिमेय स्थिति के अनुभव का तथा उसके निरीक्षण का, हमारी शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। ध्यान हम कैसे करें, इसके स्थान पर हमें पता लगाना होगा कि ध्यान से हमारा क्या अर्थ है। ध्यान हम कैसे करें इसका पता लगाना तो ध्यान को समझने का एक अपरिपक्व तरीका होगा। यदि हम इस गुत्थी को सुलझा सकें कि ध्यान क्या है तो सुलझाने की वह प्रक्रिया ही ध्यान है।

ध्यान क्या है और विचारणा क्या है ? यदि हम इसका पता लगायें कि ध्यान क्या है तो हमें इसका पता लगाना पड़ता है कि विचारणा क्या है। अन्यथा विना विचारणा की प्रक्रिया को जाने केवल ध्यान करना एक कल्पना का सर्जन मात्र है, वह एक ऐसे भ्रम को उत्पन्न करती है जिसमें कोई वास्तविकता नहीं होती। इसलिये ध्यान क्या है इसे वास्तव में समझने के लिये अथवा इसका पता लगाने के लिये केवल शाब्दिक व्याख्याओं को प्राप्त करने का कोई महत्व नहीं है। इसके लिये व्यक्ति को विचारणा की समस्त प्रक्रिया में जाना पड़ता है।

विचारणा स्मृति की एक अनुक्रिया है। विचार शब्दों के, प्रतीकों के, आदर्शों के दास हो जाते हैं। मन शब्द होता है, और वह ईश्वर, कम्यूनिस्ट, प्रधानाचार्य, उप-प्रधानाचार्य, प्रधान मंत्री, पुलिस इंसपेक्टर, ग्रामीण, बावर्ची आदि शब्दों का दास बना रहता है। इन शब्दों के भाव एवं अर्थ के सूक्ष्म अंतर को तथा इन शब्दों के साथ संलग्न अनुभूतियों को देखिये। आप संन्यासी कहते हैं और तुरन्त आपके सामने सम्मान का एक स्वरूप

आ जाता है इसलिये हममें से अधिकांश के लिये शब्द का बड़ा महत्व होता है। हममें से अधिकांश के लिये शब्द ही मन है। हम एक ऐसे ढांचे में रहते हैं और सोचते हैं जो प्रतिबद्ध है, शाब्दिक और प्रतीक-बद्ध है; वह ढांचा अतीत है जो कि काल है। यदि आप अपने अंदर इस प्रक्रिया को होते देखें तो उसका बड़ा महत्व है।

तो, क्या बिना शब्द के विचार होता है ? क्या बिना शब्द के और इसलिये काल से बाहर विचारणा होती है ? शब्द काल है। और यदि मन शब्द से, प्रतीक से, स्वयं से, अपने को पृथक् कर सके तो क्या कोई अन्वेषण ऐसा है जो किसी फल-प्राप्ति के लिये नहीं है और, इसलिये, जो काल-विहीन है।

सर्वप्रथम हम इस तस्वीर को उसके सम्पूर्ण रूप में देखें। जिस मन के पास देश (space) अथवा विस्तार नहीं है, जिसमें वह अवलोकन कर सके, उस मन में प्रत्यक्षीकरण का गुण नहीं होता है। विचार प्रक्रिया से अवलोकन होता नहीं। हममें से अधिकांश शब्दों के द्वारा देखते हैं। क्या वह देखना है ? जब मैं एक पुष्प को देखता हूँ और कहता हूँ कि वह एक गुलाब है, तो मैं उस गुलाब को देखता हूँ अथवा उस अनुभूति को, उस विचार को देखता हूँ जिसे वह शब्द उत्पन्न करता है ? इसलिये वह मन जो देश और काल से बना है क्या किसी देश और काल-विहीन अवस्था का अन्वेषण कर सकता है, क्योंकि यही अवस्था है जिसमें सर्जन होता है ? एक टेकनिकल मन, जिसने विशेषज्ञता वाला ज्ञान प्राप्त किया है, आविष्कार कर सकता है, उसमें कुछ जोड़ सकता है, परन्तु वह सर्जन कभी नहीं कर सकता। वह मन जिसमें देश, शून्यता, नहीं है जिसमें से वह देख सके, स्पष्ट ही एक ऐसा मन है जो एक देश-विहीन एवं काल-विहीन अवस्था में रहने के अयोग्य है और आवश्यकता उसी अवस्था की है। इसलिये एक मन जो कि देश और काल में, शब्दों में, स्वयं अपने

में, निष्कर्षों में, टेकनिकों में, विशेषज्ञता में फँसा है, अत्यन्त पीड़ित मन है। जब विश्व किसी ऐसी वस्तु का सामना कर रहा है जो पूर्णतया नवीन है तो उसके लिये हमारे सारे प्राचीन उत्तर, शास्त्र, परम्परायें अपर्याप्त हो जाती हैं।

तो विचारणा क्या है? हमारा अधिकांश जीवन कुछ होने के, कुछ बनने के, कुछ उपलब्ध करने के, प्रयत्न में व्यतीत होता है। हमारा अधिकांश जीवन इन प्रयत्नों की एक शृंखला है जो कभी सम्वंधित होते हैं, कभी असम्वंधित, और इन प्रयत्नों में निहित महत्वाकांक्षा और अन्तर्विरोध की सारी समस्या एक ऐसी अवशेष प्रक्रिया उत्पन्न करती है जिसे हम एकाग्रता कहते हैं। फिर हमें कोई प्रयत्न करना ही क्यों चाहिये? प्रयत्न का प्रयोजन ही क्या है? यदि हम प्रयत्न न कर पाये तो क्या हम निष्क्रिय हो जायेंगे और मान लीजिये हम निष्क्रिय हो भी जाँय तो उससे क्या अंतर पड़ता है? क्या इस समय अपने तमाम प्रयत्नों के वाद भी हम सड़ नहीं रहे हैं? प्रयत्न का क्या और भी अधिक कोई महत्व है? यदि मन प्रयत्न को समझ लेता है तो क्या वह एक नवीन प्रकार की ऐसी शक्ति को नहीं विमुक्त करेगा जो उपलब्धि, महत्वाकांक्षा, अन्तर्विरोध की भाषा में नहीं सोचती? क्या वह शक्ति स्वयं कर्म नहीं है?

प्रयत्न में विचार और कर्म निहित है और समस्या यह है कि विचार और कर्म के वीच की खाँई को कैसे पाटा जाय। सभी प्रयत्न में विचार और कर्म दोनों साथ-साथ रहते हैं। और फिर इन दोनों के विभाजन की आवश्यकता ही क्या है, और क्या ऐसा विभाजन विनाशकारी नहीं है? सभी विभाजनों में विरोध होता है और आत्म-अन्तर्विरोध की अवस्था में ध्यान का विचलन होता है। जितना ही अधिक विरोध होता है उतना ही अधिक ध्यान का विचलन और उससे उत्पन्न कर्म होता है। इसलिये जन्म से मृत्यु पर्यंन्त जीवन एक ऐसा संघर्ष होता है जिसका कोई अंत नहीं है।

हम कैसे जीयें क्या इस संवन्ध में अपने को तथा छात्रों को शिक्षा देना संभव है ? जीवन से मेरा तात्पर्य यहाँ केवल एक बौद्धिक मनुष्य के रूप में जीवित रहने से नहीं वरन् एक पूर्ण मनुष्य से है जिसके पास एक अच्छा शरीर और एक अच्छा मन हो, जो प्रकृति का आनन्द लेता हो, जो विश्व की समग्रता, विपन्नता, प्रेम, दुःख, सौन्दर्य को देखता हो।

जव हम विचार करते हैं कि ध्यान क्या है, मैं समझता हूँ कि सवसे पहली वस्तु उसमें शरीर का शान्त होना है। वह शान्ति नहीं जो दवाव से आती है या प्रयत्न से लायी जाती है। मैं नहीं जानता कि आपने हवा में किसी वृक्ष को हिलते तथा उसी वृक्ष को सूर्यास्त के वाद देखा है या नहीं ? वह शान्त होता है। उसी प्रकार क्या शरीर भी स्वाभाविक रूप से, सामान्य रूप से, स्वस्थ रूप से, शान्त हो सकता है ? इस सव में एक ऐसा अन्वेषक मन निहित है जो कि न तो किसी निष्कर्ष की खोज में लगा है और न तो जिसका आरम्भ किसी प्रयोजन से होता है। जो अज्ञात है, जो अपरिमेय है, उसका अन्वेषण एक मन कैसे कर सकता है ? कैसे एक व्यक्ति ईश्वर का अन्वेषण करे ? यह सव ध्यान का ही अंग है। इस सवके अन्वेषण के लिये हम छात्र की कैसे सहायता करें ? यन्त्र और इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क स्थान ले रहे हैं, इस देश में लगभग पचास वर्षों में स्वचालित यन्त्र भी आने वाले हैं और तव आपके पास तमाम अवकाश होगा और आप ज्ञान के लिये पुस्तकें पलट सकते हैं। हमारी तर्क-वुद्धि ही नहीं वरन् प्रत्यक्षीकरण की क्षमता, उस वोध की क्षमता कि क्या सत्य है और क्या असत्य है—ये क्षमतायें सत्ता, स्वीकृति, अनुकरण द्वारा, जिनमें सुरक्षा है, नष्ट की जा रही हैं। यह सव तो हो रहा है परन्तु इन सव में ध्यान का क्या स्थान है ? जव मैं आपसे वात-चीत कर रहा हूँ, मुझे ध्यान के गुण की अनुभूति है। यह ध्यान है। मैं बात कर रहा हूँ, परन्तु मन, जो कि संवाद कर रहा है, ध्यान की अवस्था में है।

इस सबके लिये एक असाधारण रूप से नमनीय मन की आवश्यकता है, न कि ऐसे मन की जो स्वीकार या अस्वीकार करता है, जो चुपचाप मान लेता है अथवा अनुकूल बनता है। इस प्रकार ध्यान मन का उद्घाटन है और उसी के द्वारा प्रत्यक्षीकरण है। वह एक निर्बाध अवलोकन है, एक ऐसा अवलोकन जिसमें कोई पृष्ठ-भूमि नहीं होती, जिसमें एक अनन्त-शून्यता होती है, जिसमें अवलोकन होता है। विचार काल है और ऐसे अवलोकन के लिए, जो विचार की सीमा के परे आता है, एक ऐसे मन की आवश्यकता होती है जो अनुपम रूप से शान्त है, मौन है।

इस सबका तात्पर्य एक ऐसी बुद्धि है जो शिक्षा का, पुस्तक-ज्ञान का, टेकनीक की उपलब्धि का, परिणाम नहीं है। स्पष्ट है कि यदि किसी पक्षी का आपको अवलोकन करना है तो आपको पूर्णतया शान्त होना चाहिये; अन्यथा आप जरा भी हिले नहीं कि पक्षी उड़ जाता है; यदि आप अवलोकन करना चाहते हैं तो आपके समस्त शरीर को शान्त, विश्रांति में तथा संवेदनशील होना चाहिये। आप उस अनुभूति को कैसे उत्पन्न करेंगे? यह अनुभूति ध्यान का अंग है और आप इसी एक वस्तु को ले लें। अपने इस विद्यालय में आप इसको कैसे लायेंगे? इसके लिये सर्वप्रथम अवलोकन करना, सोचना, एक ऐसा मन प्राप्त करना जो सूक्ष्म है, शान्त है, एक ऐसा शरीर प्राप्त करना जो कि अनुक्रियात्मक है, संवेदनशील है, उत्सुक है—क्या यह सब आवश्यक भी है?

हमारी चिन्ता केवल यही रहती है कि किसी डिग्री को प्राप्त करके नौकरी करने में छात्र की कैसे सहायता की जाय और तब हम उसे इस राक्षसी समाज में डूबने देते हैं। परन्तु वह जीवन-शक्ति से वास्तव में परिपूर्ण हो इसके लिये यह आवश्यक है कि हम जीवन के प्रति, केवल अपने अथवा दूसरों के जीवन के प्रति ही नहीं वरन् केवल जीवन के प्रति,

ग्रामीण के प्रति, वृक्ष के प्रति, इस अनुपम अनुभूति को प्राप्त करने में उसकी सहायता करें। जीवन के प्रति आवेगपूर्ण होना, प्रेम करना, यही ध्यान है—और इसके लिये विनय की गहरी अनुभूति की आवश्यकता होती है। इस विनय का संवर्धन नहीं किया जा सकता। तो फिर इसके लिये आप वातावरण कैसे उत्पन्न करेंगे, क्योंकि बालक इस प्रकार तो जन्म लेते नहीं कि वे पूर्ण हों ? आप कह सकते हैं कि हम यही कर सकते हैं कि एक ऐसे परिवेश का सर्जन करें जिसमें वे एक अत्युत्तम व्यक्तित्व के रूप में विकसित हों; परन्तु ऐसा नहीं होगा। वे वही हैं जो वे हैं; वे चिंताओं तथा आशंकाओं वाले हमारे अतीत के परिणाम हैं और हमने ही उस समाज को भी बनाया है जिसमें वे रहते हैं और जिसके अनुकूल उन्हें बनना पड़ता है तथा जिसके अनुकूल वे हमारे द्वारा प्रतिवद्ध किये जाते हैं। आप उस वातावरण का कैसे निर्माण करेंगे जिसमें वे इन तमाम प्रभावों को देख सकें, जिसमें वे इस पृथ्वी के सौन्दर्य को देख सकें, इस घाटी के सौन्दर्य को देख सकें ? जिस प्रकार आप अपना समय गणित, विज्ञान, संगीत, नृत्य को देते हैं, उसी प्रकार आप अपना समय इस सवके लिये भी क्यों नहीं देते ?

शिक्षक : इस सम्बन्ध में मेरे मन में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ आ रही थीं, मैं सोच रहा था कि यह सब कैसे सदा सम्भव नहीं होता।

कृष्णमूर्ति : आप नृत्य को, संगीत को क्यों समय देते हैं ? जैसे आप गणित को समय देते हैं उसी प्रकार इसके लिये भी समय क्यों नहीं देते ? आपको इसमें रुचि नहीं है। यदि आप देखते कि यह भी आवश्यक है तो आप इसके लिये समय देते। यदि आप देखते कि यह भी उतना ही आवश्यक है जितना गणित तो आप कुछ-न-कुछ करते।

ध्यान का अर्थ केवल टेकनिकल, अथवा धर्म-संघीय अथवा शास्त्रीय जीवन ही नहीं होता, उसमें समग्र जीवन निहित है और इस समग्रता

को समझने के लिए तथा उसके साथ संवाद के लिये एक ऐसे अवलोकन की आवश्यकता है जो देश-काल से परे हो। मन को अपने अंदर इस देश-विहीन तथा काल-विहीन अवस्था का वोध होना चाहिये। उसे इस चित्र को उसकी समग्रता में देखना चाहिये। आप इस समस्या का सामना कैसे करेंगे, छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं, वरन् जीवन को उसकी समग्रता में देखने में छात्र की कैसे सहायता करेंगे? मैं चाहता हूँ कि वह इसकी विशालता का वोध करे।

———

परिच्छेद—११

पुष्पित होना

शिक्षक : सही प्रश्न कैसे किया जाय, क्या इस समस्या पर हम विचार कर सकते हैं ? हम प्रायः किसी उत्तर को पाने के लिये, किसी विधि तक पहुँचने के लिये, किसी के कारण की खोज के लिए, प्रश्न करते हैं। हम प्रश्न करते हैं इस वात का पता लगाने को कि हम ईर्ष्या क्यों करते हैं, हम क्यों क्रोधित होते हैं ? तो, क्या प्रश्न-क्रिया का कोई ऐसा स्वरूप अपने अन्दर तथा वालक के अन्दर विकसित किया जा सकता है जिसमें कि केवल अन्वेषण हो, जिसमें न तो कोई विधि या प्रणाली हो और न केवल कारणों की खोज ? क्या वालक के प्रति हमारे दृष्टि-कोण में यह समस्या सर्वाधिक महत्व की नहीं है कि उचित प्रश्न-क्रिया कैसे हो ?

कृष्णमूर्ति : हम कैसे किसी वस्तु के विषय में प्रश्न करते हैं, शंका करते हैं ? अपने प्रति, सत्ता के प्रति, अथवा शिक्षण-व्यवस्था के प्रति हम कब प्रश्न करते हैं ? "प्रश्न" शब्द का क्या अर्थ है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अन्दर एक आत्म-आलोचनात्मक जागरूकता की कमी है। क्या हम इसके प्रति जागरूक हैं कि हम क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं, क्या अनुभव कर रहे हैं ? इस आलोचनात्मक जागरूकता को लाने

के प्रति हम कैसे सचेत होते हैं अथवा प्रश्न करते हैं ? यदि हम इसको ठीक से समझें तो वालक में आत्म-आलोचना की क्षमता का, आलोचनात्मक जागरूकता का विकास करने में यह सहायक हो सकता है। हम इस विषय में कैसे आरम्भ करें ? मैं प्रश्न क्यों करता हूँ ? क्या कभी मैं अपने प्रति प्रश्न करता हूँ ? क्या कभी मैं देखता हूँ कि मैं कितना साधारण व्यक्ति हूँ अथवा मैं प्रश्न करता हूँ तथा उसका एक स्पष्टीकरण प्राप्त करता हूँ और वस आगे वढ़ जाता हूँ ? अपनी साधारण स्थिति का ज्ञान होना वड़ा हतोत्साहित करने वाला होता है और इसलिये व्यक्ति अपने प्रति प्रश्न नहीं करता, वह अपने से आगे नहीं जाता।

इसको एक दूसरे प्रकार से भी रख सकते हैं। वहुत थोड़ा अंश है हमारा जो सजीव है। हमारा वहुत थोड़ा सा ही अंश है जिसमें जीवन का स्पंदन है, शेष तो सो रहा है। और वह थोड़ा सा अंश भी जिसमें जीवन का स्पन्दन है, धीरे-धीरे धुँधला पड़ता जाता है, एक ढर्रे में पड़ता जाता है और फिर समाप्त हो जाता है।

एक परिपूर्ण मानव होने का क्या अर्थ है, इसे क्या हम जानते हैं ? वास्तविकता यह है कि हम सजीव हैं ही नहीं। समस्या यहाँ पूर्णतया सजीव होने की है, शारीरिक रूप से सजीव होने की अर्थात् अच्छे स्वास्थ्य की, अधिक भोजन करने की नहीं, संवेगात्मक रूप से संवेदनशील होने की, और सहानुभूति के गुण को प्राप्त करने की, और एक वहुत अच्छा मन प्राप्त करने की है, अन्यथा व्यक्ति मृत है।

इस मन को उसकी समग्रता में आप कैसे जागृत करेंगे ? यह आपकी समस्या है। अपनी अनुभूतियों में तथा प्रत्येक वस्तु के प्रति अपनी अभिरुचि में आप अन्दर और वाहर पूर्णतया सजीव हैं; इसे आप कैसे देखेंगे ? और इस अविघटित जीवन की अनुभूति को आप छात्र में कैसे जगायेंगे ?

ऐसा करने के केवल दो ही तरीके हैं; या तो आपके अभ्यंतर में कुछ ऐसा हो जो इतना तीव्र हो कि वह सभी अंतर्विरोधों को भस्म कर दे; अथवा आपको एक ऐसी दृष्टि प्राप्त करनी होगी जो प्रतिक्षण जागरूक रहे, प्रतिक्षण जो कुछ आप कर रहे हैं उसका सावधानी से अन्वेषण करती रहे—एक ऐसी जागरूकता जो निरन्तर आपको अपने अन्दर खोज करने के लिए प्रेरित करने को प्रश्न करती रहे और जिससे एक ऐसा नवीन गुण उत्पन्न हो जो सभी गंदगी को बाहर रखे। तो, एक मनुष्य के रूप में और फिर एक शिक्षक के रूप में इनमें से क्या है जो आप कर रहे हैं ?

शिक्षक : प्रश्न क्या हमें ही निरंतर करना होता है अथवा कोई प्रश्न-क्रिया ही ऐसी है जो स्वयं ही सक्रिय रहती है ?

कृष्णमूर्ति : यदि वह क्रिया नहीं है जो स्वयं ही सक्रिय रहती है तो फिर आपको उसे छोटी वस्तुओं से आरम्भ करना होता है, क्या नहीं करना होता ? छोटी-छोटी वस्तुओं से आरम्भ करें न कि बड़ी वस्तु से। केवल इसका अवलोकन आरम्भ करें, बिना किसी आलोचना के, कि आप कैसे वस्त्र पहनते हैं, क्या करते हैं, सड़क को कैसे देखते हैं। और इस अवलोकन से, इस श्रवण से, आप उस दूसरी वस्तु पर जो कि स्वतः सक्रिय होता है, जो पूर्णतया आत्म-गतिशील होती है, आप कैसे पहुँच रहे हैं ?

एक ऐसी आत्म-गतिशीलता होती है जिसकी ओर आपको ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु उस तक आप कभी नहीं पहुँचते हैं जब तक कि आप छोटी-छोटी वस्तुओं का निरीक्षण नहीं करते हैं; और फिर भी आपको यह देखना होता है कि कहीं आप सतत् चलने वाले निरीक्षण के फंदे में तो नहीं पड़ गये हैं। अपनी पोशाक का, आकाश का निरीक्षण करना और फिर भी उसके बाहर रहना आवश्यक है जिससे कि आपका मन छोटी-छोटी बातों के ही अवलोकन में केवल न लगा रहे वरन् व्यापक

समस्याओं में भी संलग्न हो—व्यापक समस्यायें जैसे देश की भलाई और उससे भी व्यापक समस्याएँ हैं जैसे सत्ताधिकार, अथवा पूर्णता को प्राप्त करने की शाश्वत इच्छा अथवा सही या गलत की निरंतर चिन्ता अथवा भय। इसलिये क्या मन इन छोटी-छोटी वस्तुओं का अवलोकन कर सकता है और क्या इस अवलोकन के साथ-साथ, उनमें विना फँसे वह वाहर निकल सकता है जिससे कि कहीं अधिक वड़ी समस्याओं पर ध्यान दे सके ?

शिक्षक : मन की वह अवस्था, वह दृष्टि क्या है जिसमें छोटी-छोटी वस्तुओं का यह सतत अवलोकन, यह अवबोध, तो होता ही है, परन्तु मन उनमें फँसता नहीं है ?

कृष्णमूर्ति : वह कौन सी वस्तु है जो छोटी-छोटी वस्तुओं में आपको वंदी वना देती है ?

शिक्षक : मेरी धारणाएँ। और फिर भी मैं इन महत्वहीन वस्तुओं में पड़ना तो नहीं चाहता।

कृष्णमूर्ति : परन्तु हमें इन छोटी वातों की ओर ध्यान तो देना ही पड़ता है। अधिकांश व्यक्ति जैसे ही वे ध्यान देते हैं उनमें फँस जाते हैं। इन छोटी वस्तुओं की ओर ध्यान देना और फिर भी उनके फंदे में न पड़ना—यही तो विचारणीय विषय है। तो वह क्या है जो मन अथवा मस्तिष्क को वंदी बना देता है ?

शिक्षक : तात्कालिकता की चिंता।

कृष्णमूर्ति : आप कहना क्या चाहते हैं ? क्या आपका तात्पर्य दूर-दृष्टि न होने से है ? आप समस्या को नहीं देख रहे हैं।

शिक्षक : छोटी वस्तुओं के प्रति मेरी आसक्ति।

कृष्णमूर्ति : क्या आप छोटी वस्तुओं के वंदी नहीं हैं ?

शिक्षक : मैं हूँ। मेरे अन्दर सम्भवत: एक गहन अचेतन वोध अथवा एक भ्रम है, यह कि मैं किसी महान वस्तु के लिये अपने को तैयार कर रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति : आप महत्वहीन वस्तुओं के वंदी हैं, क्या इसके प्रति आप सचेत हैं ? पता लगाएँ कि आप वंदी क्यों हैं। इस तथ्य को लें कि आप छोटी वस्तुओं के वंदी हैं और सम्भवत: अनेक छोटी वस्तुओं के, और पूछें कि ऐसा क्यों है, उसमें अन्दर जायें, प्रश्न करें, पता लगायें। उसका स्पष्टीकरण न देने लगें और न तो उस स्पष्टीकरण के साथ भागें जैसा कि आपने अभी किया। आपको वास्तव में एक वस्तु को लेना चाहिये और उसे देखना चाहिये। जव आप अभ्यंतर रूप से जो निराशा, द्वन्द्व, प्रतिरोध है, उसका साक्षात् करते हैं, तो जो वाहर है उसे भी आप ठीक करते हैं। जो अभ्यंतर का मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व है वही आपके महत्वहीन वस्तुओं के वंदी वनने के रूप में अभिव्यक्त होता है और तव आप उन्हे ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। आन्तरिक द्वन्द्व को, कष्ट को, विना समझे जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यदि आप यह पाते हैं कि आप हताश हैं तो उसमें जायें; और यदि आप उसकी गहराई में चले गये हैं तो वह क्रोध को, अधिक भोजन की आदत को, दिखावटी पोशाक को ठीक करेगा।

आप हताशा के विषय में किस प्रकार प्रश्न करते हैं, यह महत्वपूर्ण है। आप प्रश्न कैसे करते हैं ? जिससे कि हताशा उद्‌घाटित होती है, जिससे कि वह पुष्पित होती है। जव विचार पुष्पित होता है, केवल तभी वह अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। एक उद्‌यान के पुष्प की भांति विचार को भी मंजरित होना चाहिये, उसमें फल आना चाहिये और तभी उसकी मृत्यु होती है। मृत्यु को प्राप्त कर सके, इसके लिये विचार को स्वतंत्रता दी जानी चाहिये। उसी प्रकार हताशा को भी पुष्पित होने की तथा मृत्यु

को प्राप्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। और सही प्रश्न यह है कि क्या हताशा को पुष्पित होने की तथा मृत्यु प्राप्त करने की स्वतंत्रता हो सकती है ?

शिक्षक : आपका पुष्पित होने से क्या अर्थ है ?

कृष्णमूर्ति : उद्यान को, उन फूलों को, वहाँ सामने देखें। वे खिलतें हैं और कुछ दिन बाद वे मुरझा जाते हैं, क्योंकि यही उनका स्वभाव है। तो हताशा को भी स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वह खिल सके। आपको हताशा के कारण को समझना है। परन्तु इसलिये नहीं कि आपको उसका दमन करना है अथवा कहना है कि "मुझे परितुष्ट होना चाहिये।" क्यों मुझे परितुष्ट होना चाहिये ? यदि मैं झूठ बोलता हूँ तो मैं झूठ बोलना बन्द करने का प्रयत्न कर सकता हूँ जो कि सामान्यतः व्यक्ति करते हैं। परन्तु क्या मैं उस झूठ को पुष्पित होने तथा मृत्यु को प्राप्त करने की अनुमति दे सकता हूँ ? वह अच्छा है या बुरा, सही है या गलत, आदि कहने से क्या मैं इन्कार कर सकता हूँ ? झूठ के पीछे क्या है, क्या इसे मैं देख सकता हूँ ? मैं झूठ क्यों बोलता हूँ इसका पता सहज रूप से मैं तभी लगा सकता हूँ जब इस प्रकार पता लगाने की मुझे स्वतंत्रता होती है। उसी प्रकार यदि मैं चाहता हूँ कि मैं महत्वहीन वस्तुओं का बंदी न बना रहूँ तो क्या मैं इसका पता लगा सकता हूँ कि मैं बंदी क्यों हूँ ? मैं चाहता हूँ कि यह तथ्य पुष्पित हो। मैं चाहता हूँ कि उसका विकास हो और वह फूले-फले जिससे कि बिना मेरे स्पर्श के ही वह मुरझा जाय और मृत हो जाय। तब यद्यपि मैं उन महत्वहीन वस्तुओं का अवलोकन करता हूँ, परन्तु उनका बंदी नहीं होता।

आपका प्रश्न था "क्या ऐसा कोई वेग है जो अपने को स्वच्छ-स्वस्थ रखते हुये गतिशील बना रहता है ?" वह वेग, वह अग्नि जो जलती है तभी संभव होती है जब प्रत्येक वस्तु को—चाहे वह कुरूप हो चाहे सुन्दर,

चाहे बुरी हो अथवा अच्छी, अथवा मूर्खतापूर्ण—पुष्पित होने की स्वतंत्रता हो, जब किसी भी वस्तु का दमन न हो जाय, जब कोई भी ऐसी वस्तु न रह जाय जिसका विकास न हुआ हो और जिसकी परीक्षा न की गई हो और जो भस्म न हो गई हो। और मैं वह नहीं कर सकता यदि इन महत्वहीन वस्तुओं के माध्यम से मैं हताशा, दुःख, द्वन्द्व, मूर्खता, मंदता की खोज नहीं कर लेता। यदि मैं केवल तर्क-बुद्धि के द्वारा ही हताशा की खोज करता हूँ तो मैं नहीं जानता कि हताशा का क्या अर्थ है। इसलिये इन महत्वहीन वस्तुओं से मैं किसी व्यापक वस्तु की ओर जाता हूँ और व्यापक को समझने में दूसरी वस्तुएँ विना किसी बाधा के पुष्पित होती हैं।

शिक्षक : आप जो कुछ कहते हैं मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने उसकी एक झलक पा ली है, अब मैं उसकी परीक्षा करना चाहता हूँ।

कृष्णमूर्ति : आप उसकी परीक्षा कर रहे हैं मेरे साथ जब कि मैं उसकी परीक्षा कर रहा हूँ। आप स्वयं अपनी उन महत्वहीन वस्तुओं की जिनमें आप फँसे हैं परीक्षा कर रहे हैं।

शिक्षक : द्वन्द्व के पुष्पित होने में, उसे पुष्पित होने की तथा मृत्यु को प्राप्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। हमारा छोटा मन अपने को वह स्वतंत्रता नहीं देता। आप कह रहे हैं कि आन्तरिक द्वन्द्व को पुष्पित होना चाहिये तथा मृत्यु को प्राप्त करना चाहिये और फिर आपने कहा कि यह पुष्पित होना तथा मृत होना अभी हो रहा है जब हम उसकी परीक्षा कर रहे हैं। यहाँ एक कठिनाई यह है कि ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुष्पीकरण में मैं कुछ अपनी ओर से प्रक्षिप्त कर रहा हूँ और वह स्वयं ही एक बाधा है।

कृष्णमूर्ति : यह वास्तविक समस्या है। आप देखें कि पुष्पित होना आपके लिये एक विचार है। आप उस तथ्य को, उस लक्षण को, उस कारण

को, नहीं देखते और उस कारण को ठीक अभी पुष्पित होने की अनुमति नहीं देते। हमारा छोटा मन सदा लक्षणों का सामना करता है न कि तथ्य का। उसे अन्वेषण की स्वतन्त्रता है ही नहीं। वह ठीक उन्हीं कामों को करता है जो इसके छोटे मन होने के सूचक हैं; क्योंकि वह कहता है, "यह एक अच्छा विचार है, मैं इसके विषय में विचार करूँगा," और इस प्रकार वह भुलावे में पड़ जाता है क्योंकि वह तथ्य का नहीं विचार-क्रिया का सामना कर रहा है। वह यह नहीं कहता, "उसे पुष्पित होने दो और देखें कि क्या होता है।" तब वह पता लगा लेगा। परन्तु वह कहता है, "वह एक अच्छा विचार है। मुझे इस विचार का अन्वेषण करना चाहिये।"

तो हमने अनेक बड़ी वस्तुओं की खोज कर ली है। सबसे पहली बात तो यह है कि हम महत्वहीन वस्तुओं के प्रति जागरूक नहीं हैं। फिर, जब जागरूक होते हैं तो हम उनमें फँस जाते हैं और हम कहते हैं, "हमें यह करना चाहिये, हमें वह करना चाहिये।"

क्या मैं लक्षण को देख सकता हूँ, उसके कारण में जा सकता हूँ तथा उस कारण को पुष्पित होने दे सकता हूँ? परन्तु मैं चाहता हूँ कि वह एक निश्चित दिशा में पुष्पित हो। जिसका अर्थ है कि वह कैसे पुष्पित हो इस विषय में मेरी कोई धारणा है। तो क्या मैं उसके पीछे पड़ सकता हूँ? यही मेरी मुख्य समस्या बन जाती है और मैं देखता हूँ कि मैं कारण को पुष्पित होने से रोकता हूँ, क्योंकि मुझे इसका भय है कि यदि मैंने हताशा को पुष्पित होने दिया तो पता नहीं क्या होगा। इसलिये मैं क्यों भयभीत हूँ, मैं इसका पता लगाता हूँ? मैं भयभीत किससे हूँ? मैं देखता हूँ कि जब तक भय है पुष्पित होना संभव नहीं है। इसलिये मुझे भय से निबटना होता है, विचार के द्वारा नहीं वरन् एक तथ्य के द्वारा, जिसका अर्थ है कि मैं भय को मंजरित होने दूँगा। मैं भय को मंजरित होने देता

हूँ और देखता हूँ कि क्या होता है। इस सब के लिये बहुत अधिक आन्तरिक प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता है। भय को मंजरित होने देना—आप जानते हैं कि इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ हो सकता है कि मेरी नौकरी चली जाय, कि मैं अपनी पत्नी अथवा पति द्वारा बरबाद कर दिया जाऊँ।

क्या मैं प्रत्येक वस्तु को मंजरित होने दे सकता हूँ ? उसका अर्थ यह नहीं है कि मैं किसी को लूटने, किसी की हत्या करने जा रहा हूँ, वरन् क्या मैं "जो है" उसे मंजरित होने दे सकता हूँ ?

शिक्षक : क्या हम उसमें जा सकते हैं और तब एक वस्तु को मंजरित होने दे सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति : क्या वास्तव में आप तथ्य को देखते हैं ? किसी वस्तु को, ईर्ष्या को, पुष्पित होने देने का क्या अर्थ है ? सर्वप्रथम कितना असम्मानजनक, कितना अनाध्यात्मिक है यह ! जीवन की सम्पूर्णता को प्राप्त करने के लिये आप ईर्ष्या को कैसे पुष्पित होने देते हैं ? क्या आप ऐसा कर सकते हैं जिससे कि आप उसमें फँस न जायें ? क्या आप उस अनुभूति को बिना कोई बाधा उत्पन्न किये अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त करने दे सकते हैं ? जिसका अर्थ यह हुआ कि आप उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करते, कि आप उसे सही या गलत नहीं कहते, कि आप उसके विषय में कोई धारणा नहीं रखते, क्योंकि ये सब तो ईर्ष्या को नष्ट करने के तरीके हैं। परन्तु आप ईर्ष्या को नष्ट नहीं करना चाहते। आप चाहते हैं कि वह पुष्पित हो और अपने सभी रंगों को, वे चाहे जैसे भी हों, अभिव्यक्त करे।

शिक्षक : यह मुझे बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है।

कृष्णमूर्ति : क्या आपने कभी एक पौधे को लगाया है ? आपने वह कैसे किया ?

शिक्षक : भूमि को तैयार करना, उसमें खाद डालना···· ।

कृष्णमूर्ति : सही खाद डालना, सही बीज का प्रयोग करना, सही समय से उसे लगाना, उसकी देख भाल करना, दूसरी वस्तुयें उसे खराब न कर दें उसे रोकना । आप उसे स्वतंत्रा देते हैं । आप ईर्ष्या के साथ भी ठीक वैसा ही क्यों नहीं करते ?

शिक्षक : पुष्पित होना यहाँ उसी प्रकार बाहर अभिव्यक्त नहीं होता जिस प्रकार पौधा ।

कृष्णमूर्ति : परन्तु उस पौधे की तुलना में, जिसे आप बाहर मैदान में लगाते हैं, यह कहीं अधिक वास्तविक है। क्या आप नहीं जानते कि ईर्ष्या क्या है ? ईर्ष्या के उत्तर में क्या आप कहते हैं कि वह कल्पना है ? आप उससे जल रहे हैं, क्या नहीं जल रहे हैं ? आप क्रोध में हैं, गुस्से से भरे हैं । आप उसका अनुसरण क्यों नहीं करते, एक विचार के रूप में नहीं वरन् वास्तविकता में, आप उसे लेकर देखते क्यों नहीं कि वह पुष्पित हो, जिससे कि प्रत्येक पुष्पीकरण अपना नाश कर सके ? और इस प्रकार उसके अंत में जो विनाश का निरीक्षण करने वाले "आप" हैं, वह न रहें । उसी में वास्तविक सर्जन है ।

शिक्षक : जब पुष्प पुष्पित होता है, वह अपने को अभिव्यक्त करता है । आप कहते हैं कि ईर्ष्या जब पुष्पित होती है तो वह अपना नाश करेगी । इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ है ?

कृष्णमूर्ति : एक कली को लें, किसी कुंज की एक वास्तविक कली को । यदि आप उसे नष्ट कर दें तो वह पुष्प नहीं बनेगी और शीघ्र ही मृत हो जायेगी । यदि आप उसे पुष्पित होने देते हैं तो वह अपना रंग, अपनी सुकुमारता, अपना पराग, अपना स्वरूप दिखाती है । बिना आपको बताये कि वह लाल है, नीली है, कि उसमें पराग है, वह दिखाती है कि

वह वास्तव में क्या है। वह वहाँ है कि आप उसे देखें। इसी प्रकार यदि आप ईर्ष्या को पुष्पित होने देते हैं तो वह जो वास्तव में वह है उसे प्रगट करती है---जो वह द्वेष है, राग है। इसलिये ईर्ष्या को पुष्पित होने देने में उसने आपको अपने सब रंग दिखा दिये और ईर्ष्या के पीछे क्या है वह सब आप के लिये प्रगट हो गया। यदि आपने उसे पुष्पित न होने दिया होता तो आप इस सब का कभी पता न लगा पाते।

यह कहना कि ईर्ष्या मोह का कारण है केवल शब्दीकरण है, परन्तु ईर्ष्या को वास्तव में पुष्पित होने देने में यह तथ्य कि आपको किसी वस्तु से मोह है एक तथ्य बन जाता है, एक संवेगात्मक तथ्य, न कि बौद्धिक अथवा शाब्दिक विचार। इस प्रकार प्रत्येक पुष्पीकरण उसे अभिव्यक्त करता है जो अभी तक आपके लिए अज्ञात है; और जैसे-जैसे प्रत्येक तथ्य प्रगट होता है, वह पुष्पित होता है और आप उसका साक्षात् करते हैं। आप प्रत्येक तथ्य को पुष्पित होने देते हैं और वह दूसरे द्वार खोलता है। और ऐसा तब तक चलता रहता है जब तक किसी भी प्रकार का और कोई पुष्पीकरण नहीं रह जाता और इस प्रकार कोई कारण अथवा प्रयोजन नहीं रह जाता।

शिक्षक : ईर्ष्या के कारणों का पता लगाने में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मेरी सहायता करेगा। इस विश्लेषण में तथा पुष्पित होने में क्या कोई महत्वपूर्ण अंतर है ?

कृष्णमूर्ति : इनमें से एक बौद्धिक प्रक्रिया है। निरीक्षक किसी निरीक्षित वस्तु के प्रति क्रिया करता है, जो कि विश्लेषण है, संशोधन है, परिवर्द्धन तथा संवर्द्धन है। परन्तु दूसरा एक तथ्य है जिसमें निरीक्षक नहीं होता; वह स्वयं तथ्य ही है।

शिक्षक : आप जो कहते हैं वह पूर्णतया अशाब्दिक है। निरीक्षक और निरक्षित में कोई सम्बन्ध नहीं होता।

कृष्णमूर्ति : इस अनुभूति का होना कि आपके अंदर प्रत्येक वस्तु को पुष्पित होना चाहिये, एक बड़ी खतरनाँक अवस्था है। परन्तु यदि आप इसको समझ लें कि आपके अंदर प्रत्येक वस्तु को पुष्पित होना चाहिये, जो कि एक अद्भुत वस्तु है, तो उसी में वास्तविक स्वतंत्रता है। और जैसे-जैसे प्रत्येक वस्तु पुष्पित होती है तो न तो निरीक्षक रह जाता है न निरीक्षित वस्तु; अत: वहाँ कोई विरोध नहीं रह जाता। इस प्रकार आपके अंदर प्रत्येक वस्तु पुष्पित होती है तथा मृत्यु को प्राप्त होती है।

शिक्षक : यदि मैं उसे आरम्भ में ही नष्ट कर सकता हूँ तो मैं क्यों उसे पुष्पित होने दूँ ?

कृष्णमूर्ति : यदि आप कली को नष्ट कर दें तो फूल का क्या होगा ? यदि आप कली को नष्ट कर दें तो वह पुष्पित नहीं होगी। उसी प्रकार आप कहते हैं "मुझे ईर्ष्या को, भय को, नष्ट कर देना चाहिये," परन्तु ईर्ष्या और भय को नष्ट करना संभव नहीं है। आप उनका दमन कर सकते हैं, उनमें परिवर्तन कर सकते हैं, उन्हें ईश्वरार्पण कर सकते हैं परन्तु उनका अस्तित्व सदा रहेगा ही। परन्तु यदि आप इस मूलभूत तथ्य को--प्रत्येक वस्तु को निर्बाध रूप से पुष्पित होने को—समझ लें, तो वह एक क्रांति होगी।

शिक्षक : ईर्ष्या एक जटिल वस्तु है।

कृष्णमूर्ति : उसे पुष्पित होने दीजिये। पुष्पित होने में ईर्ष्या अपनी जटिलता अभिव्यक्त करती है। और जटिलता को समझने में, उसके निरीक्षण में, वह किसी दूसरे तथ्य को अभिव्यक्त करती है और तब उसे भी पुष्पित होने दीजिये, जिससे कि आपके अंदर प्रत्येक वस्तु पुष्पित होती रहे, किसी को भी न नकारा जाय, किसी का भी दमन न हो, किसी का भी नियंत्रण न किया जाय। यह एक बड़ी शिक्षा है, क्या नहीं है ?

शिक्षक : आप जो कह रहें हैं उसका वड़ा महत्व है। परन्तु क्या यह संभव है ?

कृष्णमूर्ति : यह संभव है, अन्यथा उसको कहने का कोई अर्थ न होता। यदि आप इसे समझते हैं तो आप छात्र को पुष्पित होने में कैसे सहायता करेंगे ? आप समझने में उसकी कैसे सहायता करेंगे ?

शिक्षक : मैं अपने से आरम्भ करूंगा। किसी मनोवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा मैं कारण को देख सकता हूं। आप कह रहें हैं कि पुष्पित होने में समस्या अपने को उद्घाटित करती है। इन दोनों में बड़ा अंतर है। परन्तु यदि इसकी एक झलक मुझे मिल भी जाय तो भी इसे छात्र को वताना कठिन है।

कृष्णमूर्ति : यह एक शब्द-विहिन संवाद है जिसे मैंने आपको शब्दों के माध्यम से संप्रेषित किया है। संवाद में विचार का जो पुष्पीकरण होता है उस तक मैं कैसे पहुंचा हूं ?

शिक्षक : इसके पहले कि कोई वस्तु मेरे अंदर पुष्पित हो, साम्य की एक अवस्था की स्थापना आवश्यक होती है और तभी इस पुष्पीकरण का अथवा उस क्षेत्र का भी, जिसमें पुष्पीकरण होता है, अनुसंधान संभव है।

कृष्णमूर्ति : मैं इसे स्वीकार नहीं करता। मैं नहीं समझता कि आप उसे उस तरह से कर सकते हैं। ईर्ष्या के विचार को लें। मैं कहता हूं कि उसे पुष्पित होने दें। परन्तु आप उसे पुष्पित नहीं होने देंगे।

शिक्षक : जहाँ तक मेरा एक वालक के साथ सम्वन्ध है, तो सवसे पहला कार्य क्या उसमें अनुभूति के इस गुण को, जो कि साम्य है, जाग्रत करना नहीं होता ?

कृष्णमूर्ति : मैं बताऊँगा कि वह क्या है। यदि आप सुनते हैं, यदि वास्तव में सुनते हैं, तो पुष्पीकरण वास्तव में होगा। यदि आपने सुना है, देखा और समझा है तो सुनने के तुरन्त पश्चात् पुष्पीकरण हुआ है और यदि वह हुआ है तो अन्य वस्तुएँ बालक के लिये बड़ी सरल हो जाती हैं। आप बालक का निरीक्षण करने के लिये, उसकी सहायता के लिये, शाब्दिक स्तर पर उससे संवाद करने के लिये, विभिन्न तरीके ढूँढ लेते हैं। स्वयं सुनने की क्रिया ही पुष्पीकरण है।

शिक्षक : क्या यह सुनना एक गुण है ?

कृष्णमूर्ति : आप सुन रहे हैं। आप उसे गुण क्यों कहते हैं ? आपने वह सुना जो आज इस प्रातः मुझे कहना था, "प्रत्येक वस्तु को पुष्पित होने दें।"

यदि आप सुनते हैं, तो वह घटित होगा। वह एक गुण नहीं है। गुण तो वह वस्तु है जो स्थापित हो चुका होता है, परन्तु यह तो सजीव वस्तु है, प्रज्ज्वल वस्तु है, उग्र वस्तु है। आप उसे एक गुण अथवा एक अभ्यास नहीं बना सकते। क्या आप रंग को देखने का अभ्यास डाल सकते हैं ? नहीं डाल सकते। पुष्प के सौन्दर्य को, उसकी शोभा को, आप तभी देख सकते हैं, जब पुष्पीकरण होता है।



जे० कृष्णमूर्ति द्वारा लिखित पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद

१. ध्यान—Meditation

२. प्रेम-स्वयं से संलाप—Love-A Dialogue to Oneself

३. शिक्षा भाग (२) शिक्षकों से वार्ता—
On Education, Talk to Teachers

४. शिक्षा भाग विद्यार्थियों से वार्ता—
On Education, Talk to Students

५. शिक्षा एवं जीवन का महत्व—
Education and the Significance of Life

६. जीवन भाष्य—Commentaries on Living

७. संस्कृति के प्रश्न—Matter of Culture

८. प्रथम एवं अन्तिम मुक्ति—First and the Last Freedom

Krishnamurti Foundation India
Rajghat Fort, Varanasi-221 001